## - अध्याय चतुर्थ -

### "हिन्दी के झोपडपट्टी पर आधारित उपन्यासों का संक्षिप्त में आशय"

1. शैलेश मटियानी - "कबुतरखाना" - 1960
2. शैलेश मटियानी - "किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई" - 1960
3. शैलेश मटियानी - "बोरीवली से बोरीबंदर तक" - 1969
4. जगदम्बाप्रसाद दीक्षित - "मुरदाघर" - 1974
5. भीष्म सहानी - "बसंती" - 1980

ooo

## - अध्याय चतुर्थ -

## हिन्दी के झोपडपट्टी पर आधारित उपन्यासों का संक्षिप्त में आशय"

### 1. शैलेश मटियानी : कबूतरखाना - 1960.

यह उपन्यास 1960 में आत्माराम एंड सन्स दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। बम्बई का एक प्रसिद्ध मोहल्ला भुलेश्वर इसकी कथा भूमि का केन्द्र है। उपन्यास में मात्र दो वर्ग और प्रवृत्ति विशेषों को ही रुपायित करने का प्रयास लेखक ने किया है। बम्बई के कुछ सेठ घरानों में प्रतिदिन की कहानियों को अक्षरशः शब्दों के जाल में बांधकर मटियानी ने समाज के सामने इस यथार्थ तस्वीर को रखा है। यह उपन्यास उस समय की देन है, जब लेखक बम्बई की एक प्रसिद्ध चाट की दूकान पर नौकरी करता था और वहां पर बहुत सारे अनुभव मटियानी को आये, जिसका सफल प्रयास "कबूतर खाना" है।

सेठ लोगों की हर शाम एक नई लडकी से रंगीन होती है और उनकी सेठानियां लोग नौकरों के हिस्से आती है। सेठ लालजी ऐसे ही पात्र हैं। इनके लिए लोक - लाज और मर्यादा कुछ भी नही है। एक दिन अपनी पत्नी नीलांबरी की लटें बिखरते हुए उन्होंनें कह ही दिया - "मै यहाँ रहकर क्या करु? मैं तो द्वारका के कृष्ण जैसा विभिन्न उपवनों के विभिन्न पुष्पों पर मँडरानेवाला रसिया भ्रमर। तेरे लिये मेरा उपयोग ही क्या है, तेरे लिए मैंने होटल में रामा लोग रखे हैं।"

"निम्न वर्ग अर्थात शोषित वर्ग जो कि लावारिस जिंदगी में पंख नोंचे हुए कबुतर की तरह चारों तरफ से आगे पीछे से बेशुमार गमगीन बर्बादी बदनसीबी का समुद्र है। सेठों के घरों में काम करनेवाले रामा लोग ईमानदारी का जीवन कभी जी नहीं सकते, क्योंकि फिर इसका रहना मुश्किल हो जाता है। जीपन जीने के लिए इन्हें अनैतिक और घिनौने कार्य भी करने पडते है[2]।" वेश्याओं का जिक्र भी "कबूतरखाना" में आया है। जब तक इनके शरीर में रस रहता है, तब तक अपने शरीर का मोल करती है। "इनका अंत बहुत ही दर्दनाक होता है। शोषित लोग इस तरह की जिंदगी से निकलना चाहते हैं, पर निकल नहीं पाते। मटियानी शोषक वर्ग पर व्यंग करते है"।[3]

"ये शाकाहरी पूँजीपति - रावण कुंभकर्ण - कंस के इन वंशधरों को कोई क्या कहे? रंडिया जिन्हें कहते है ये - उनसे कही ज्यादा बेशर्म है। रंडियों में बेबसी की बेशर्मी होती है, मगर ये तो बेहया होते है, पैसा - पैसा केवल पैसा ही इनका ईमान है केवल पैसा ही इनका धर्म ईश्वर है"।[4] मटियानी अनाचार के विरुद्ध लढने के लिए तैयार है। "कबूतरखाना" इसकी सही व्याख्या है। डा. अमर जायसवाल इस उपन्यास के बारे में कहते हैं - " यह लघु उपन्यास अपनी शैली और शिल्प में सीधा सादा होते हुए भी काफी परिणामकारक सिद्ध हुआ है और

यही इस रचना की सबसे बडी सफलता है।"

"कबूतरखाना, शैलेश मटियानी की यह बहुचर्चित रचना है. बम्बई महानगरी के फूटपाथी जीवन का सजीव चित्रण इस रचना में हुआ है।"कबुतरखाना" में बम्बई की वैभवयुक्त इन्द्रधनुषी अट्टालिकाओं के नीचे फुटपाथ पर बैठे उन इन्सानरूपी कबूतरों का जीवन चित्र है,जिनके बैठने के लिये उस विशाल नगरी में अभी तक दरबे नहीं बने।[5] आज भी लाखों की संख्या में बम्बई में ऐसे मनुष्य जीव हैं जो फुटपाथ पर अपनी जिंदगी बिता रहे हैं। जिसके जीवन में अब भी यह आशा है कि एक न एक दिन उन्हें रहने के लिए छोटासा घर मिलेगा। किन्तु वर्षों बित गये वे इन्सान आज भी अपने सपनों को संजोय फूटपाथ पर सो रहे हैं,उन्हीं सोते हुए लोगों के स्वप्न की यह दर्दभरी कहानी है। फुटपाथ पर सोते हुए ये जीव ही कबूतर हैं। इस रचना के विषय में भूमिका में लेखक ने कहा है–" उपन्यास में पात्र दो वर्ग और प्रवृत्ती विशेष को ही रूपायित करने का प्रयास रहा है.... इसलिए इस उपन्यास की प्रत्येक वस्तु सीमित है– कथा, भाषा और शैली तीनों एक सीमित दायरे परम्परा से सम्बध्द है।" लेखक के इस कथन से स्पष्ट है कि यह रचना सीमित दायरे, सीमित लोगों के जीवन को लेकर लिखी गयी है।इस रचना में दो वर्गा का चित्रण हुआ है।एक है मालिक वर्ग और दूसरा है नौकर वर्गा।अर्थात यह कथा है शाषक और शोषितों की। इस दोंनो की कथा को कहने का ढंग लेखक का अपना है। इस दोनों वर्गों की कथा को शैलेश मटियानी ने इस लघु उपन्यास के एक पात्र के माध्यम से कही है। गणपत नौकर है और उसी की बोली में कथा कही गयी है। गणपतने अपनी भाषा का प्रयोग इसमें किया है।

गणपत की जिंदगी को सही रूप में और यथार्थ के साँचे में आँकने का प्रयास लेखकने किया है। गणपत सुशिक्षित नहींहै, वह गँवार है। गँवार और पिछडा होने के कारण उसकी बोली और उसके वातावरण में आरंभ से लेकर अंत तक एक प्रकार गला जीवन है। यह गला जीवन ही यथार्थ है और इसलिए वह स्वाभाविक है। इसमें संदेह नहीं कि इस रचना में अनेक स्थलों पर गन्दगी चित्रित की गयी है पर इसी कारण गन्दगी का यथार्थ और सजीव रूप"कबूतरखाना" में उभरकर सामने आया है। जिस वर्ग में गणपत जी रहा है उसमे नितांत अभाव है। जान लेनेवाले तडप और पीडा है।जब कभी भीतर की यह व्यथा या तडपन बाहर आती है तो ऐसा लगता है मानो किसी ने क्षय रोग से पीडित फेफडों से भीतर से दुर्गंध भरा और काला–काला रक्त इधर–उधर छिटक दिया है। बम्बई जैसे महानगर में नौकरों की जिंदगी किस तरह असहनीय हो गयी है– यह गणपत की जिंदगी से ज्ञात होता है। नौकरके इस जीवन में "नशा दो किसम का होता है एक मोहबत्त का एक दारू का–मोहबत्त के नशे में आदमी

अपने देश के लिए अपनी माँ–बहन के वास्ते कुर्बानी करता है। और दारु का नशा -- पीले शराबी कीचड की गटर में गिरता तो कुत्तरा मुँह पर पेशाब करता....।"[6] किन्तु दारु का यह नशा तो कुछ घडी दिल को बहलाने का है। जब यह नशा उतर जाता है तो जीवन का वास्तविक रुप उभरकर सामने आता है। जीवन के वे अवसाद ही संभवतः होते पर सिमटकर यह कहने लगते है, "कभी कभी ऐसा लगता है, एक सिर्फ रोटी मिलती रहे और कुछ भी हर्ज नहीं। पर जब भी पेट भर रोटी उपलब्ध हो जाती है – औरतकीजरुरत होने लगती है काश यह (रोटी) माँ के प्यार भरे हाथों से होते हुए हम तक पहुँचती – काश वह दाँत कटी बनकर बहन दाँतों तक पहुँचती।"[7].

गणपत के ये शब्द उसके अंतर्मन की वेदना है, छटापटाहट है। यह एक ऐसा दर्द और पीडा से भरी ऐसी सिसकसरी है जो विविश और अभावग्रस्त गणपत को गालियाँ देने के लिए, गन्दे इशारे करने के लिए, जाँघ उघाडकर हँसने के लिए या फिर सरेबाजार नाचने के लिए मजबूर करती है। सिवा इसके और ऐसी क्रियाएँ करने गणपत के पास कोई दूसरा चारा या पर्याय नहीं है। जिन्दगी ऐसी मजबूर बन चुकी है कि सिवा ऐसे रास्तों पर पत्थर रख दिये गये है। मेहनत मजदूरी करने पर सूखी रोटी भी पेट भर मयस्र नहीं होती।

गणपत जिस वर्ग का प्रतिनिधि है उस वर्ग की इस दुर्दान्त स्थिति का कारण मात्र पूँजीवादी शोषण नीति के कारण ही गणपत जैसे वर्ग की अवहेलना और उपेक्षा होती है। जब इस अनाचार के विरुद्ध आवाज बुलंदी से नहीं उठायी जायेगी तब तक इस प्रस्थापित व्यवस्था में कोई अन्तर नहीं आयेगा। गणपत और उसका वर्ग इन पूँजीवादियों से संघर्षरत है। यह संघर्ष ही उसकी कहानी है। शोषकों के विरुद्ध यह रचना गणपत की पुकार है। गणपत और उसका वर्ग केवल शोषण की कहानी नहीं कहता अपितु वह जीने का अधिकार चाहता है। उसकी चाह मात्र इतनी है कि स्वतंत्रतापूर्व जहाँ किसी की अधीनता या बेबसी न हो जीवन जीने को मिले। गणपत और उसके वर्ग के लोगों की एक ही अभिलाषा है कि उन्हें भी जीवन जीने की स्वतंत्रता मिले। वह चाहता है कि कबूतरों के सामान उनका यह बदतर जीवन समाप्त हो। गटर में जीनेवाले कीडों के सामान जिंदगी से वह अपना और अपने वर्ग का उद्धार करना चाहता है। उसकी जिंदगी की इस पहलू को शैलेश मटियानी ने बडी खुबी के साथ प्रस्तुत किया है। "कबूतरखाने के समान बनी हुई जिंदगी कसे वर्गसंघर्ष के रुप में मटियानी ने चित्रित किया है। शैलेश मटियानी के व्यक्ति चेतना का आधार अर्थतंत्र है किन्तु उसकी परिणति मानवतावादी है।"[8]

एक तरफ तो धन – सम्पन्न सेठ लोग है और दूसरी तरफ निम्न – वर्ग है, जो लावारिस की तरह की जिंदगी जी रहा है। जो पंख नोचे हुए कबूतर की तरह चारों तरफ से

आगे – पीछे, ऊपर नीचे से बेसुमार तथा बदनसिबी बरबादी की जिंदगी जी रहा है। इन बदनसिबों का जीवन जीने के लिए ईमानदारी से रहने पर नौकरी नहीं मिल सकती है। ये लोग जीने के लिए, रोटी के लिए फुटपाथ पर रहकर भी महलों में घिनौने कार्य करने पर मजबूर किए जाते हैं। अगर वे इसका विरोध करें तो उन्हें जीने नहीं दिया जाता है। इसी शहर में एक तरफ विवशता की चक्की में पिसनेवाली निरीह औरते हैं, जो अपना मात्र पेट भरने के लिए आपने शरीर को तब तक कोठे पर बेचती रहती है, जब तक इनका अंत नहीं हो जाता॥

शिक्षित एवं संपन्न लोगों की यथार्थता "कबूतरखाना" में करारें व्यंग के साथ मटियानी प्रस्तुत करते हैं जो "एक पंख नोंचे हुए कबुतर की तरह अंदरुनी तडफ और बाहरी गूटरगूं की एक बोलती हुई तस्वीर है।

मटियानी के अधिकांश पात्र आर्थिक विषमताओं से जूझते हुए नजर आते हैं। शहरी जीवन के उपेक्षित वर्ग में भी यह समस्या हल नहीं होती है, बल्कि और भी जटिल हो जाती है। "कबूतरखाना" में गणपत के द्वारा उस पूरे समाज के अंतर्मन की वेदना की छटपटाहट है, तो बम्बई जैसे विशाल महानगरी में सडक के किनारे कबूतरों के समान जीवन बीता रहे हैं। उनके लिए अभी तक दरबें भी नहीं हैं – कि वे अपनी शारीरिक रक्षा कर सकें। इस अभाव को लेखक की पैनी लेखनी ही प्रकट करती है।"गणपत जिस वर्ग का प्रतिनिधि है उस वर्ग की इस दुर्दान्त स्थिति का कारण मात्र पूँजीवाद है। पूँजीवादी शोषण–नीती के कारण ही गणपत जैसे वर्ग की अवहेलना और उपेक्षा होती है। जब तक इस अनाचार के विरूध्द आवाज बुलंदी से नहीं उठायी जाएगी तब तक इस प्रस्थापित व्यवस्था में कोई अंतर नहीं आयेगा॥ गणपत और उनका वर्ग पुँजीवादियों से संघर्षरत है। यह संघर्ष ही उस की कहानी है। शोषकों के विरूध्द यह रचना गणपत की पुकार है।"

जाहिर है गणपत उसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करेगा जिसके पास अभाव ही अभाव है, पैसा नहीं। जिस किसी तरह अपना पेट पर्दा चलाता है।

इस आर्थिक विषमताओं के मध्य पलता हुआ इन्सान सामाजिक परिप्रेक्ष्या में कितना योगदान कर सकता है, यह समझने की चीज है। जब तक समाज में आर्थिक विषमता है. तब तक अत्यधिक गरीब और भी विवश है। मटियानी के उपन्यास में यह भाव खुलकर उभरा है कि जो निर्धन वर्ग है उनसे अपनी माँ बहनों की रखवाली भी नहीं हो सकती॥ भाई इतना मजबूर है कि वह बहन को वेश्या बनने से बचा नहीं पाता॥ इस तरह इन्सानियत के सारे नाते, रिश्तें अपवित्र असंबध्द होने के लिए विवश हो जाते हैं। दुसरी ओर जिनके पास आवश्यकता से आधिक धन है वे नारी को भोग–विलास का माध्यम मानते हैं।

उच्च वर्गों के पात्रों में स्थानीयता की झलक यदा-कदा ही मिल पाती है। गरीब परिवार इतने समर्थ नही कि वे भी अमीरों की नकल करें। इसलिए गरीबं में स्थानीयता का बोध ज्यादा देखा जाता है। ऐसा क्यों होता है? यह गरीबी का ही कारण है-"कबूतरखाना" में एक वेश्या अपने जो बीते हुए दिनों पर क्षोभ व्यक्त करती हुई कहती है-"नाचने के पैसों से गुजर होनी मुश्किल थी पूरे "परिवार की" इसलिए चुपके से गलियों में उतरकर दोपहर को घूमने के बहाने होटलं में जाने लगी। बाबू लोगोंने नोटों के बंडलों के साथ-साथ बिमारियों का बंडल भी दिया। मैं कहीं की न रही।[9] इस तरह के निम्न वर्गों के चरित्रों को जाहिर करने में मटियानी कुशल हैं।

मटियानी का हर उपन्यास किस-न-किसी तरह की समस्याओं को उजागर करता है चाहे वह वेश्या-जीवन पर लिखा गया हो चाहे ग्रामीण अंचल के किस और पहलू को लेकर मटियानी उपन्यासों में समस्या के साथ-ही साथ उसका समाधान भी प्रस्तुत करते चलते हैं।इनके उपन्यास काल्पनिक नहीं अपितु यथार्थ के धरातल पर खडेकिये गये हैं।लेखकने जो कुछ जिंदगी में देखा है उसी का शब्दशः वर्णन करने का अथक प्रयास किया है। नारी जाती के प्रति उनकी श्रध्दा और सहानुभूति है। वे समाज की बुराइयों को जड से उखाड फेंकना चाहते हैं।बम्बई के सम्पूर्ण जन-जीवन का चित्रण इसमें नहीं है। इस उपन्यास की प्रत्येक वस्तु एक सीमित दायरें और परम्परा में बध्द है।कथा, भाषा और शैली एक सीमित बंधन से जुडी है।

इस उपन्यास की कथावस्तु गणपत के माध्यम से कही हुई है इसलिए उसकी भाव-भूमि, कथा और भाषाशैली बिल्कुल गणपत की अपनी मुँहबोली दास्तान है।

लेखक ढाई-तीन वर्ष की अवधि तक बम्बई की एक प्रसिध्द चाट की हैसियत से उन्होंने सेठो के घर में काम करनेवाले नौकर "रामा" लोगों के संसर्ग- सम्पर्क में आकर उनकी ही जीवन्त अनुभूति का चित्रण इस उपन्यास में किया है। ऐसा ही एक "रामा" से उसकी आत्मकथा, उसी के मुख से, उसी की भाव में- उसी के स्नेह-संवेदन-क्रोध-आक्रोश और दार्शनिक मनोभावों के साथ-और लोग भी सुनें-इस उद्धेश्य से, गणपत रामा को अपने उपन्यास का मुख्या पात्र बनाकर उसकी कथा कहने को शैलेश मटियानी ने पाठकों के सामने लाया है- गणपत रामा को अपने "कबूतरखाना" उपन्यास में

एक पांखी टूटेले कबूतर की अन्दरुनी तडफ और बाहरी गुटुरगुँ की एक बोलती हुई तस्वी..... एक चोट खाए कबूतर के टूटे हुए, मगर जिस्म से चिपके - चिपके तेज हवा के झटकों से तुरतुरानेवाले, डैने की सेएँदार पर्तों की "हिस्टरी" - याने, सेठ सेठानियों के कबूतरनुमा नौकर गणपत रामा की मुँहबोली दास्तान। ".....और अंतस् को अकुला, मस्तिष्क

को झकझोर देनेवाली आपबीती अनुभूतियों का एक ढाँचा – जिसकी पसली – पसली आतशी शीशे का एक चटका हुआ टुकडा, जिसका रेशा – रेशा एक रिस्ता हुआ नासूर।..."[10] – एक सीमित दायरे में उडने को विवश पालतू कबूतर के जैसे दयनीय और दूध – दही के मजबूत ढक्कनों वाले (केवल जीभ डालने भर को खुले) बर्तनों के इर्द – गिर्द घूमते घर – लिलाव के जैसे विडम्बनपूर्ण क्षणों के भोक्ता की तेज, तल्ख और टीसभरी कथा हिन्दी की नई पीढी के लोकप्रिय कथा – शिल्पी शैलेश मटियानी की प्रखर लेखनी से।

"कबूतरखाना" में शैलेश मटियानी ने वेश्याओं के जीवन को उद्घाटित किया है। लेखक वेश्याओं के प्रति घृणा नहीं, बल्कि सहानुभूति प्रकट करता है, क्योंकि वेश्याओं ने इस पेशे को मन से स्वीकार नही किया वरन् उनकी मजबुरियों ने उन्हें ऐसा करने के लिए मजबूर किया है।"[11]

**निष्कर्ष :–**

शैलेश मटियानी लिखित "कबूतरखाना" आत्मकथात्मक शैली में लिखा हुआ एक महत्वपूर्ण उपन्यास माना जाता है। इस लघु उपन्यास में बम्बई के पिछडे हुए वर्ग की तथा फुटपाथ पर और झोपडपट्टी में रहनेवाले लोगों के जीवन की यथार्थ दास्तान प्रस्तुत की है। इस उपन्यास में देह – विक्रय करनेवाली मजबूर रंडियों के और सेठों के घर में बर्तन माँजनेवाले रामा लोगों की कथा – व्यथा को वाणी देने का काम किया है। इसमें बम्बई के प्रसिद्ध मुहल्ले भुलेश्वर को कथा का केन्द्र बनाया है। इस उपन्यास में एक ओर ऐसा एक उच्च वर्ग दिखाया है जिसकी हर एक रात नयी युवती से रंगीन बनती है तो दूसरी तरफ एक ऐसा निम्न वर्ग दिखाया है कि जो पंख नोचे कबूतर की तरह चारों तरफ से बर्बादी की जिंदगी जी रहा है। ऐसे बदनसीब लोगों का लेखा – जोखा यथार्थ रुप में चित्रित किया गया है। मटियानी ने प्रस्तुत उपन्यास द्वारा इन बस्तियों में बसनेवाले वेश्या नारियों के निर्माण के पिछे समाज को उत्तरदायी माना है। उन्होंने समाज का धिक्कार भी किया है।

इस उपन्यास में फूटपाथ ही जिनका आवास है ऐसे लोगों की परेशानियों को प्रस्तुत किया हैं ये लोग जूठन खाकर, झूठेपन का भार सहकर जीते हैं। बिना कारण पुलिस की मार खाते हैं। अभिशप्त जिंदगी जीते हैं। असाध्य बिमारियों में मर जाते हैं। मृत्यु उनके लिए वरदान होता है। शैलेश मटियानी ने यहाँ प्रतिकात्मक शैली में मानवी जीवन की व्यथा को प्रस्तुत किया है। इस रचना में लेखक की स्वानुभूति प्रकट होती है। उन्होंने यह जीवन स्वयं भोगा है, देखा है। इसलिए यह वर्णन अत्यन्त सजीव बन बैठा है। इस उपन्यास की भाषा और शिल्प सशक्त है। शिल्प में नयापन है। प्रतिकों और संकेतों का चित्रण आया है। लेखक आडंबर से बचे है। शैलेश मटियानी का यह उपन्यास अनुभूति और संवेदन का एक जीता जागता चीत्र लगता है।

2. शैलेश मटियानी : किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई – 1960.

"किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई" यह उपन्यास 1960 में प्रकाशित हुआ है। यहाँ काठे पर जीनेवाली नारियों के जीवन की बेबसी है। जीवन का यह रूप बम्बई में है, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। नर्मदाबेन जैसे पात्र अर्थ की महत्ता के कारण ही घिनौना जीवन जीने के लिए विवश है। आर्थिक विषमता जन्य परिस्थितियों के कारण इन उपर्युक्त समाज में वर्गसंघर्ष साँस ले रहा है। इनके सम्मुख जीवन की कठिनाइयाँ ही कुछ ऐसी हैं कि उन्हें निबटते ही उनका जीवन समाप्त हो जाता है। नारियों की दो तरह की मानसिकताओं का जिक्र मटियाती करते हैं। एक तो मालकिन नर्मदाबेन हैं, दूसरी नौकरानी गंगूबाई जो विधवा है। अपने वैधव्य का रक्षण नौकरानी निभा लेती है, पर मालकिन अपनी शारीरिक हवस निभाने के लिये रोज नया आदमी खरीदती है।

आर्थिक असमानता की जितनी गहरी दलदल इस बम्बई शहर में उतनी अन्यात्र नहीं। और इसके बीच अमीर–गरीब सब परेशान हैं। "किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई" शैलेश मटियानी का एक ऐसा लघु उपन्यास है, जिसमे महानगर में रहते हुए फुटपाथ पर सोनेवालों की जिन्दगी और उसकी परेशानियाँ दर्शायी गयी हैं। फूटपाथ ही जिनके आवास का एकमात्र ठिकाना है। वे लोग दूसरों का जूठा खाकर और जूठे का भार सहकर जीते हैं। कई बार यह लागे बिना किसी कारण के पुलिस की लाठी सहते मर जाते हैं या फिर उनकी मृत्यु छुतही बिमारी से होती है। मृत्यु ही उनके लिये जीवन है क्योंकि जीवन इनके लिए अभिशाप है और मृत्यु वरदान। महानगरी का सामान्य व्यक्ति किन अभावों से गुजर रहा है और इन अभावों के कारण उनकी जिंदगी कितनी विवश होती जा रही है इसका हृदयग्राही चित्रण शैलेश मटियानी ने उपर्युक्त रचना में किया है।

"किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई" में कोठेपर जीनेवाली नारियों के जीवन कि बेबसी का चित्रण मिलता है। अर्थ –तंत्र की महत्ता के कारण ही इस प्रकार घिनोना जीवन व्यतीत करने के लिये ये चरित्र विवश हैं। निसंशय शैलेश मटियानी की रचनाओं पर साम्यवाद का प्रभाव है किन्तु वे मात्र साम्यवादी रचनाकार नहीं हैं। साम्यवाद के साथ उनकी रचनाओं में प्रारंभ से लेकर अंत तक सहज और स्वाभाविकता है। उनके चरित्र मात्र किस वाद के प्रसार और प्रचार के लिऐ संघर्षरत नहीं हैं अपितु उनके सम्मुख जीवन की कथ्ठनाइयां ही कुछ ऐसी है कि उन्हें निपटते ही उनका जीवन समाप्त हो जाता है। शैलेश मटियानी की रचनाओं में उनके स्वानुभूति यथार्थ की प्रामाणिकता का आयाम मिलता है। उन्होंने चित्रित जीवन को स्वयं देखा है, स्वाय भोगा है। उनकी रचनाओं में लोक–जीवन लोक–संस्कृत और लोक–कथाओं का समग्र परिवेश सजीव हो उठा है। उनमें कृत्रिमता या अस्वाभाविकता कहीं पर भी नहीं है।

उनकी रचनाओं में निम्न–मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं का उस वर्ग की निर्धनता का और जर्जर परम्पराओं का प्रभावी चित्रण हुआ इन सबको परिवेशगत मानवीय संवेदना के साथ प्रस्तुत किया गया है। शैलेश मटियानीद्वारा चित्रित लोक जीवन में कहीं पर भी केवल आरोपन या मात्र वर्णन के वर्णन नहीं है। बल्कि उन्होंने अपनी पैनी एवं सूक्ष्म दृष्टि से परिवेश की मार्मिक अनुभूति को बडी ही समर्थ एवं सशक्त अभिव्याक्ति दी है।

" शैलेश मटियानी ने अपनी रचनाओं में शिल्प की द्वष्टि से सहज एवं सशक्त अभिव्यक्ती दी है। कहीं–कहीं पर शिल्प को तराशा भी गया है जिसके कारण शिल्प में एक नयापन महसूस होता है। अपने स्थलों पर मटियानी ने प्रतिकों एवं संकेतों का प्रयोग भी किया है किन्तु उनमें जटीलता नहीं आयी। उनकी भाषा में भी एक प्रकार सहज और सरलता है ही। कहीं –कहीं उस पर आँचलिकता हावी अवश्य है, फिर भी शैलेशजी ने उसे आडम्बर से बचाया है। यही कारण है कि उसमें सहजता और स्वाभाविकता है ।"

"किस्सा नर्मदाबेत गंगूबाई उपन्यास में लेखक बम्बई शहर के सेठ–सेठानियों का सही हुलिया पेश करता है । इस उपन्यास की भी कहानी बहुत कुछ "कबूतरखाना" जैसी है । दोनों ही उपन्यासों में लेखकने सेठ घरानों में होती हुई रोज की वरदातों की बखिया उधेडी हुई है। इस उपन्यास में सेठ नगीनभाई जिनकी कामेक्षा तो वेश्यालय में तृप्त होती है, पर अपनी पत्नी के लिए नौकर रखे हुए हैं, "नगीनभाई सेठ के यहाँ. जिन्होंने अपनी नामर्दी पर पर्दा डालने के लिए रामी के स्वामी (पति) रामदुलारे को अपनी विपुल वासनावृत्ति नर्मदाबेन के लिए रखा और एक दिन चोरी का मिथ्या आरोप लगाकर नासिक सेंट्रल जेल में भिजवा दिया।"

जहाँ महलों में रहनेवाली सेठानियों के कामतृप्ति के लिए नौकर रखे जाते थे, वही उस शहर में कुछ औरतें ऐसी थी, जिन्हें अपने पेट पालन के लिए इच्छा के विरुद्ध दूसरे की कामतृप्ति करनी पडनी थी।[14]" रामदुलारे की गर्भवती पत्नी जो अथाह पीडा भुगत रही थी ऐसी ही औरत थी। "नगिनभाई सेठ जिन्होंने रानी को पाँच रुपये नहीं दिये कि वह आसन्त प्रसवा एक रात तो चैन ले सके तब उस रात भी रामी को रहीमा पठाण की बगल में सोना पडा।.....और जब अबोले शिशु को रक्तिम साश्रु नयनों से निहार, रामी ने अपने रक्त चुते नयन हमेशा के लिए बंद कर लिए थे, उसकी भिंची मुठठी खुल पडी थी, और सरकारी सिक्के सरकार और सशक्त सेठों के मुंह पर थूक की तरह फुटपाथ पर बिखर गये थे।"

"किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई" जैसे उपन्यास बंबई जैसी धन – संपन्न नगरी के पास के ही उपेक्षित इलाके, जहाँ. न आधुनिकता ही मिलती है, न बम्बई के शोर शराबें ही मिलते हैं, जिनकी एक ही तरह की संस्कृती है, भाषा व्यवहार, रहन – सहन, तथा वेशभूषा सब एक तरह की है। जो बम्बई के जीवन से बिल्कूल अनभिज्ञ है। ऐसी जगह की

आँचलिकता का चित्रण मटियानी जी बहुत बारीकी से करते हैं वहाँ गरीबी इतनी है कि बाप बेटी बेचने को मजबूर है। "किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई" में भी पारिवारिक समस्याएँ लेखकने जो भी उठायी हैं, वे असल में परिवार के विखंडित वातावरण तथा तरह – तरह की परेशानियों के कारण समाज में उत्पन्न हुई स्थितियों को सामने लाती है।

परिवार की छोटी इकाई होता है समाज की, अगर वह नहीं संगठित होगा तो समाज कैसे संगठित हो सकेगा।

किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई " उपन्यांस में भी यही स्थिति है। पति सेठ आदमी है उनके लिए पत्नी की खुशामद करना बस का नही है। पत्नी के पास जाने से बेहतर वेश्यालय जाना उनको अच्छा लगता है। पत्नी घर में कुढती रहती है। तंग आकर एक दिन पत्नी भी तरह – तरह के पुरुषों से संपर्क स्थापित कर लेती है। इस उपन्यांस में पारिवारिक सम्बन्ध विशृंखलित है और आज के समाज में भी यही हो रहा है। पति – पत्नी के सम्बधों में कडवाहट है। मधूर संबंध विरले घरों में देखने को मिलते हैं पारिवारिक सम्बध के विघटन का कारण आज – कल की तलाक की स्थिति में और भी भयंकर होता जा रहा है।

सामाजिक समस्याओं के अंतर्गत नारी समस्या का प्रश्न उठना आम – बात हो गयी है। नारी का समाज में तरह – तरह से शोषण हुआ है। और हो रहा है। मटियानी के उपन्यासों में यह समस्या खुलकर सामने आयी है। इनके आँचलिक उपन्यास और गैर आंचलिक उपन्यास दोनों में ही इस समस्या पर विस्तार से विचार हुआ है। मटियानी समस्याओं को उठाते और हल करते सामने आते हैं यह समस्या अधिक तर आर्थिक समस्या के साथ जुडी हुई है। जब भी नारी के सन्मुख रोजी – रोटी का सवाल लेखक ले आता है, तो उसका पतन अवश्य होता हुआ दिखाया है। हमारे समाज में आज वेश्यावृत्ति जिस तरह से जहर की तरह फैल रही है, मटियानी उस पर अपनी कटू व्यंग लेखनी से समाज को धिक्कारते हैं कि अपनी ही बहन बेटी का बगैर शोषण किये; समाज पेट नही पाल सकता।

जैसा कि हम जानते है कि अर्थ प्रारंभ से ही जीवन का विधायक तत्व रहा है। आर्थिक संतुलन ही प्रगतिका सूचक रहा है। जिसके माध्यम से जनजीवन की चेतना उजागर होती है। माटियानी के उपन्यासों मे निर्धनता, गरीबी, बेकारी के कारण ग्रामीण समाज में निराशा, दीनता एवं विवशता। का वातावरण अधिक है। ग्रामीणों को पूरी साल तक तंगदस्ती का ही जीवन बिताना पडता है। परिणाम यह होता है कि नवयुवक होते ही लोग शहरों की ओर बढना शुरु कर देते है कि वही पर कुछ आर्थिक संपन्नता हो सकेगी। पर शहरों का हाल तो और भी बुरा है। लेखक उन गरीब बेकार युवकों की विवशता को लेखनी से जाहिर

करता है। पैसे के लिए लोगों को कैसे – कैसे अनैतिक कार्य भी करने पडते है।

माटियानी के अधिकांश उपन्यास नारी शोषण पर लिखे गये हैं। नारी हिमायतीमटियानी तरह – तरह की समस्याओं पर विचार करते हैं। जिसमें मुख्य समस्या वेश्यावृत्ति की लेते हैं और उसपर अपनी प्रतिक्रिया जाहिर करते हैं। बम्बई नगर के जीवन का यथार्थ चित्रण अपनी रचना "किस्सा नामर्दबेन गंगूबाई" में किया है।

**निष्कर्ष :–**

शैलेश माटियानी ने इस उपन्यास के माध्यम से कोठेपर जीनेवाली नारियों के जीवन के बेबसी का चित्रण किया है। आर्थिक अभाव के कारण इसप्रकार की घिनौनी जिंदगी व्यथित करने के लिए इस उपन्यास के चरित्र विवश है। आर्थिक वैषम्य के कारण यहाँ वर्ग संघर्ष साँस ले रहा है। शैलेश माटियानी की इस रचना में साम्यवाद के दर्शन होते हैं फिर भी माटियानी साम्यवादी रचनाकार नही है। साम्यवाद के साथ – साथ यहाँ मानवतावाद के भी दर्शन होते है। इस उपन्यास के पात्र किसी वाद के कठिनाइयों में ही उनकी जिंदगी समाप्त हो जाती है। इस उपन्यांस में लेखकने हमें दो प्रकार की नारियों के दर्शन करायें हैं। एक मालकिन नर्मदाबेन है, दूसरी नौकरानी गंगूबाई विधवा है। अपने वैधव्य का रक्षण नौकरानी निभा लेती है, परंतु मालकिन स्वच्छंदी जीवन यापन करती है। इस उपन्यांस में लेखक ने धनसम्पन्न नगरी के पास पडी उपेक्षित लोगों की जिंदगी यथार्थ रुप में प्रस्तुत की है। यहाँ का दारिद्रय इतना भयावह है कि आदमी को आदमी की पहचान नही रहती है। यहाँ पेट पालने के लिए अपनी इच्छा के विरुद्ध दूसरे की कामतृप्ति करनेवाली औरते भी मिलती हैं रामदुलारे की गर्भवती पत्नी रामी इसका अच्छा उदाहरण हो सकता है। इस उपन्यास में लेखकनें मराठी बोली और कहावतों का अच्छा प्रयोग किया है। इसलिए इस उपन्यास में लोक – संस्कृति के ले भी दर्शन होते हैं।

3. **शैलेश मटियानी : बोरिवली से बोरीबन्दर तक – 1969.**

इस उपन्यास का प्रथम संस्करण 1969 में प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत उपन्यास को छपते ही हिन्दी जगत में यह चर्चा का विषय बन गया, क्योंकि यह उपन्यास प्रत्येक पाठक के बौद्धिक धरातल को झकझोर देनेवाला था। इसकी गहराई और सच्चाई तक जानेवाला ही इसे समझ सका। इसमें बम्बई का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास को आंचलिक कहने में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। एक आलोचक के अनुसार "महानगरीय जीवन वैशिष्टय उनकी रचनाओं में तो उभरा ही है, साथ ही साथ महानगरीय जीवन के भी अंचल विशेष की एक अपनी पहचान होती है, जिसे शैलेश मटियानी ने बडी मार्मिकता से प्रस्तुत किया है।"[15]

बम्बई के बोरीबन्दर पर जीनेवालों का अपना जीवन है उनकी अपनी समस्यायें हैं, तथा साथ ही मछुआरों का जीवन सम्पूर्णता के साथ इस उपन्यास में चित्रित हुआ है।" अभावग्रस्त जीवन को जीते हुए और विसंगतियों से संघर्ष करते हुए मटियानी के पात्र सहज रुप में दिखाई देते हैं। पूरे उपन्यास में बोरीवली से बोरीबन्दर तक ट्रेन यात्रा तक का ही वर्णन है, जिसकी शुरुआत दो बेकार युवकों की बगैर टिकट ट्रेन यात्रा होती है। उनके पास पैसे नहीं है कि वे टिकट ले सकें। इस उपन्यास में महानगरी की समस्याओं को उद्‌घाटित किया गया है। उपन्यास की मुख्य समस्या वेश्यावृत्ति है, किस प्रकार कुछ बहुरुपिये, पहाड की विहंग बालाओं को उडा ले जाते हैं, उन्हें दिल्ली, बम्बई, बनारस, जैसे शहरो में सप्लाई कर जाते हैं। चांदनी और नूर भी इसी तरह की अभागिन हैं, जिन्हें सब्जबाग दिखाकर कोठों तक पहुँचा दिया गया है। चांदनी कोठों की सीढीयां पार कर जाती है और अभिनेत्री बन जाती है, पर नूर को एक दादा मिलता है, जो उसकी बाप की उम्र का था, नूर को उसी की बनकर रहना पडा। वीरेन्द्र नामक युवक जो बगैर टिकट किसी तरह बम्बई पहुँच जाता है, अंततः उसका सम्पर्क नूर से होता है और दोनों आपस में विवाह कर लेते हैं। वीरेन की मुख्य कथा के साथ ही साथ नूर, दादा, चंदा तथा कली हुसैन की प्रासंगिक कथाएँ भी हैं। इसमें भाषा का प्रवाह है और साथ ही साथ नुकीलापन भी है। जो पाठक के वैचारिक धरातल को अनायास ही छू देता है। उपन्यास की नायिका नूर उन नारियों का प्रतिनिधित्व करती है, जो समाज में आज भी उपेक्षित है।

शैलेश मटियानी ने बम्बई जैसे महानगरी की समस्त अभाव से ग्रस्त पीडा और व्यथा को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त किय है। महानगरीय जीवन वैशिष्टय उनकी रचनाओं में तो उभरा ही है, साथ – ही – साथ महानगरीय जीवन की भी आँचलविशेष की एक अपनी पहचान होती है, जिसे शैलेश मटियानी ने बडी मार्मिकता से प्रस्तुत किया है। महानगरीय जीवन

के आँचलविशेष को उसके पूरे वैशिष्ट्य के साथ उभारा है। शैलेश मटियानी "बोरीवली से बोरीबन्दर तक" "कबूतरखाना" या "किसा नर्मदाबेन गंगूबाई" बम्बई के अभावग्रस्त अशिक्षित जीवन की कहानी को कठोर रूप में प्रस्तुत करते हैं। इन रचनाओं की कहानी उन चरित्रों की हैं जो कोठेपर बैठकर पेशा करते या पैसेंवालों के घरों में बर्तन माँजकर सेठानियों की मालिस करते हैं। जीवन का वह रूप बम्बई में देखने को मिलता है। जिसकी भी संभावना शायद ही किसी ने की है। "बोरीवली से बोरीबन्दर तक" में मछियारों का जीवन उनके सम्पूर्ण यथार्थ रूप में पाठकों के सामने आ जाता है। जिस अभावग्रस्त जीवन को जीत हुए और विसंगतियों से परिपूर्ण जीवन से संघर्ष करते हुए ये पात्र जी रहे हैं उनके बासन परिवेश शैलेश मटियानी ने सहज रूप में प्रस्तुत किया है। एक जाति विशेष का या विशेष प्रकार का पेशा करनेवाली जाति का चित्रण इस रचना में हुआ है। इसी अर्थ में यह रचना आँचलिक है। बम्बई के बोरीबन्दर पर जीनेवालों का अपना जीवन है, उस जीवन की अपनी समस्यायें हैं। उन सबको अपने यथार्थ और सहज रूप में प्रकट करने का सफल प्रयास "बोरिवली से बोरिबन्दर तक" रचना मेंशैलेश मटियानी ने किया है।

"बोरीवली से बोरीबन्दर तक, में मछिआरों का जीवन उनके सम्पूर्ण यथार्थ रूप में पाठकों के सामने आ जाता है। जिस अभावग्रस्त जीवन को जीत हुए और विसंगतियों से परिव्याप्त जीवन से संघर्ष करते हुए पात्र जी रहे हैं, उनका यथार्थ चित्र मटियानी ने प्रस्तुत किया है। बम्बई के जीवन में उपेक्षित जिंदगियों का अपना जीवन है। अपनी समस्याएँ हैं। जिन पर कम लोग ही ध्यान दे पाते हैं या दिए हैं। "पूरे वर्ष की अवधी तक "बोरिवली से बारिवन्दर तक" के बीच शैलेश मटियानी, के दिन गुजरे, ढेर सारे तीत मीठे अनुभव हुए इन दिनों उनका पूरा वर्ष पुलिस चौकी अस्पताल और फुटपाथ में बिमारी, बेकारी के सन्निपात में छटपटाते हुए जीवन मृत्यु के बीच झूलते बीता। इस बीच इन्हें बम्बई की उपेक्षित छटपटाती आत्माओं को देखने का निकट से अवसर मिला। जो कुछ देखा उसी का यथार्थ चित्रण "बोरीवली से बोरीबन्दर तक, में हैं।

"शहरी जीवन का चित्र जिसमें वेशावृत्ति मुख्य समस्या है, तरह के उपन्यास में लेखक ने यह दिखाने का भरपूर प्रयास किया है कि किस तरह शहरी लोग ग्राम बालाओं को फुसलाकर उठा ले जाते हैं उन्हें या तो वेश्यावृत्ति के गडडे में गिरा दिया जाता है या बुढे के साथ लगा दिया जाता है।

"बारीवली से बोरीबन्दर तक, उपन्यास में लेखक नारियों की कई तरह की समस्याओं को उठाया है। वेश्यावृत्ति को मुख्य समस्या मानते हुए लेखक ने वेश्याओं के प्रति

सदैव उदार बनने की कोशिश की है । कभी घृणा नहीं आने दी । सदैव सहानुभूति प्रकट करते है, क्योंकि वेश्याएँ हो या कोई भी नारी इस पेशे को मन से स्वीकार नहीं कर सकती हैं इसके पिछे हमेशा ही या और किसी तरह की ।" नारी के शोषण का मूल कारण है आर्थिक असमानता । इसी आर्थिक असमाता के कारण नारी खिलौने की तरह मिट्टी में मिल जाती है वह भी और उसका मातृत्व भी इन्सान की इन्सानियत भी दफन कर लेता है नारी का यह नर्क प्रस्थान । इन अबलाओं को इन गटरनुमा जिंदगी में धकेलने के लिए एक दो नहीं अपितु सारा समाज उत्तरदायी है।"

बम्बई जैसे शहर की इतनी विचित्र हालात है, जो मटियानी ने यथार्थ रूप में चित्रित किया है । जहां एक ओर हजारों वेश्याएँ हैं, जिनके भाव आटा – चावल की तरह बंधे हुए हैं, दूसरी ओर प्रच्छनरुपा वारांगनाएँ हैं जो प्रत्यक्ष रुप से गृहस्थी बसाये रहती हैं और हजारों ऐसी अभाव पीडिता भी हैं, जो दुअन्नी चवन्नी में ही अपने शरीर को किसी को सौंप देती है।" वेश्याओं के नरकनुमा जीवन को देखकर लेखक का मन चित्कार कर उठता है कि जिस देश में लाखों माँ – बहने शोषकों के कटघरे मे पडी नारकीय जीवन बिताने पर मजबूर हो उस देश को राम–कृष्ण का वेद, रामायण और महाभारत का तथा सभ्यता, संस्कृति का देश कहना सरासर झूठ है। यदि सच है तो राम – कृष्ण भी मानवता का रक्त चूसनेवाले ही रहे होंगे और इससे अधिक कुछ नही।"[17]

बोरिवली से बोरीबन्दर तक" उपन्यास की भी मुख्य समस्या आर्थिक है, वीरेन्द्र नामक युवक जो दिल्ली से बम्बई इसलिए आता है कि वह आर्थिक स्थिति से मजबूत हो सकेगा, तथा जीविकोपार्जन की समस्या बहुत जटिल पड जाती है और उसका जीवन बोरीवली से बोरीबन्दर तक के बीच रेल्वे – स्टेशनों में ही कटने लगता है। यह कहानी की बहुत कुछ आपबीती है।

शहरी जीवन को उपन्यास का आधार बनाकर मटियानाजी ने वहां की जिस आर्थिक समस्याओं को उजागर किया हैं, इससे उपन्यास साहित्य को एक नई दिशा मिलती है। यह सब मटियानी की अपनी जिंदगी से बहुत कुछ जुडा है। लेखक के पास जब तक सहानुभूति नहीं होती है, तब तक वह परानुभूति को गहराई से नहीं समझेगा, ऐसा हमें नहीं लगता।

मटियानी के उपन्यासों में पात्र सदैव आर्थिक स्थिति से जूझते हुए नजर आते हों इनकी स्वयं ही की जिंदगी भी कुछ इससे कम नहीं रही है – " मटियानी जी में जूझने की असीम सामर्थ्य है उनको हर मुहिम पर जूझना पडता है और वे जूझने से मुँह नहीं मोडते। पत्थरों को तोडकर राह बनाने की पूरी प्रक्रिया उनकी जिंदगी जीने की प्रक्रिया है। इसलिए उन्हें जबकि कोई सुख जीने की सुविधा का अवसर मिला है, तो वे उसे जल्दी से निपटा

देते है। आर्थिक क्षेत्र में भी ऐसा ही है।"

इनके उपन्यास ही नहीं वरन् संम्पूर्ण कथा – साहित्य उनकी जिजीविषा, इच्छा–शक्ति और महत्वाकांक्षा को उद्‌घाटित करता है। जिसमें अभावग्रस्तता, आर्थिक विषमता हावी है। भूख जो पेट भरने के लिए आदमी को कुछ भी करने को मजबूर करती है और तब वहां व्यक्ति सत्ता का दोष कैसे मान लिया जाएगा। इनकी एक कहानी का पात्र है जो बेरी की झाड की तरह फैले बम्बई नगर में मुंबादेवी मंदिर के सामने भिखारियों को बांटनेवाले सदाव्रत के लिए पंक्ति में बैठे और प्रतिक्षा करते लेखक मना एक लडके के सामने जब भोजन का वर्तन आता है, तो बांटनेवाला खाली बर्तन उलट देता है – और उसके हाथ फैले के फैले रह जाते है। उसी शहर में अन्न की खोज में मारा मारा वह लडका जब एक दिन सुंदर सा टॉफी का बंद डिब्बा देखता है, तो उसे लपककर इसलिए उठा लेता है कि कही किसी और भूखे की नजर न पड जाए। जल्दी – जल्दी खोलता है तो देखता है कि खाने की वस्तु की जगह किसी बच्चे का पाखाना भरा हुआ है। उसकी उंगलिया सनी की सनी रह जाती है।

फिर एक और दिन वही लडका अन्न की खोज में डोलता हुआ होता है कि, उसे फुटपाथ पर एक रुमाल पडा हुआ मिलता है। वह आने दो आने की आशा में उसे लपककर खोलता हैं तो रुमाल के कोने में पांच रुपये की एक नोट दिखाई पडती है। उस दिन वह पिछले कई दिनों की भूख की याद में भूख की अगले संभावित दिनों की प्रतिक्षा में खूब खाता है। उस बीते हुए अवसर को जल्दी से जल्दी समाप्त कर देना उसे उस दिन इतनी बडी तृप्ति देता है कि आनेवाले दिनों में भूख की चिंता ही नहीं रह जानी है। किसी ऐसे क्षण को पूर्णतः भोगने की प्रवृत्ति लेखक में विषम परिस्थितियों और अनुभव ने ही दी है।

"बोरीवली से बोरीबन्दर तक" उपन्यास में वीरेन को कभी – कभी अपने लेखक बनने पर भी खीज होती है। आर्थिक समस्याओं के कारण ही वह अपने को उस परिस्थिति में पाकर भी सोचने के लिए मजबूर होता है, "पुरुषार्थ की बात आते ही वीरेन के विचार तंतुओं को एक झटका सा लगता है लेकिन आखिर वह पुरुषार्थ कहाँ करे। उसके लिए भी तो क्षेत्र चाहिए, आधार चाहिए, राह चाहिए, लगता है, सारी सहें बनाये नहीं बनती कोई आधार ढूँढे नहीं मिलता[18]। शुरु से अंत तक आर्थिक आधार – स्तंभ खोजते हुए वीरेन भटकता रहा, उसे वह दृढ आधार मिला भी नहीं।

अंततः इन सभी परिवर्तनों पारिवारिक, ग्रामीण, शहरी, नागरी, नारी स्थिति, आर्थिक स्थिति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि मटियानी की लेखनी समाज में व्याप्त बुराइयों के उन्मूलन मे तत्पर है। उन बुराइयों को जड से उखाड फेंकने के लिए ये कुछ भी कर सकते है। आंचलिक उपन्यासों में इन समस्याओं की खुल कर चर्चा हुई है और लेखक

ने तीखी लेखनी से इन सामाजिक बुराइयों पर व्यंग भी खुब किया है, जो साहित्य समाज के औपन्यासिक क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण कदम और उनकी देन है।

निष्कर्ष :–

"बोरिवली से बोरीबंदर तक" उपन्यास को पढने के बाद यह स्पष्ट होता है कि इस उपन्यास में प्रत्येक पाठक के बाधिक थरातल को इकझोर दिया है। इसमें बम्बई का यथार्थ चित्रण मिलता है। इस उपन्यास में बोरीवली से बोरीबन्दर तक बसी हुई झुग्गी–झोपडियों की समस्याओं को नजरन्दाज किया है। इसमें बोरीवली बोरीबन्दर तक की हुई एक ट्रेन यात्रा का वर्णन है। इस उपन्यास में वेश्या समस्यापर गहराई से सोचा है। पिछडे पहाडे अंचलों से भगाकर लायी हुयी और बम्बई महानगर में वेश्या–व्यवसाय में जुडायी हुई चंदा और नूर जैसी अभागन औरतों की कहानी है। इन नारियों के उज्जवल भविष्यत के सपनों में हीं उन्हें उद्धस्त किया है। यहा युसूफ दादा जैसे मानवतावादी पात्र भी है जोनूर और वीरेद्र को सहारा देता है। इस उपन्यास में भाषा का एक प्रवाह देखने को मिलता है। इस उपन्यास की नायिका नूर आज के समाजा में स्थित उपेक्षित नारेयों का प्रतिनिधित्व करती है। लेखकने इस उपन्यास में नारेयों की कई समस्याओं को उठाया है। लेखकने वेश्या–वृत्ति को मुख्य समस्या मानते भी वेश्याओं के प्रति सदैव उदारता दिखाई है, संहानभूति प्रकट की है। लेखकने यहाँ यहा भी सिद्ध करके दिखाया है कि कोई भी नारी इस पेशे को मन से स्विकार नहीं कर सकती है। इसके पिछे हमेशा उनकी मजबुरियाँ होती है। वेश्याओं के नरकनुमा जीवन को देखकर लेखक का मन चित्कार उठता है और वह यह कहना चाहता है कि रामकृष्ण के इस देश में इस प्रकार की औरतों की मजबुरियाँ उचित नहीं है। लेखक यहाँ उन नारियों के पृष्ठाधर बनकर इनकी स्थितियों में सुधार लाने का प्रयत्न करना चाहते हैं। इस उपन्यास की भाषा पात्रानुकूल है। इस उपन्यास की शैली कथात्मक है, इसमें आत्मकथत्मक शैली का प्रयोग मिलता है। यहाँ रेखा की घूटन देखने लायक है

**जगदम्बाप्रसाद दीक्षित – मुरदाघर (1974)**

झोपडपट्टी की निर्मिति महानगरीय जीवन की सबसे बडी बिमारी है। 19 वीं सदी के अंत में भारत में औद्योगिकरण का प्रारंभ हुआ। औद्योगिकरण के साथ – साथ बडे बडे महानगरों का निर्माण हुआ। ये महानगर कल कारखानों के अड्डे बने। कारखानों में काम करके उपजीविका करने के हेतु ग्रामांचल में स्थित लोग शहरों की तरफ दौड पडे। महानगरों में बाहर से आये हुए लोगों की भीड बढने लगी। नियोजनविहीन महानगरों में जहाँ भी खाली जगह मिले बिना परवाना टाट या टीन को बिछाकर लोग रहने लगे और धीरे-धीरे महानगरों में झोपडपट्टियों का निर्माण हुआ। महानगरों की खाली जगह समाप्त होने पर रेल – लाईन की ढलान पर दोनों तरफ से मिलनेवाली खाली जगहों पर झुग्गी – झोपडियाँ बनाएँ जाने लगी। गंदी नालियों के किनारे झुग्गी झोपाडियाँ खडी रह गयी। अतीव दरिद्रय और खुली जगह के कमी के कारण झोपडपट्टीयाँ रोगों के अड्डे बनी। जगहों की तंगी के कारण स्त्री – पुरुषों के खुले शरीर – सम्बन्ध बच्चों के आँखों से नहीं बचे। इसका परिणाम यह हुआ कि झुग्गियों मे रहनेवाले बच्चो कें व्यक्तित्व विकास में विकृतियों का निर्माण हुआ। "बुरे व्यवसाय – वेश्या व्यवसाय, तस्करी, हातभट्टी, चोर बजारी, गुनहगारी, पाकीटमारी, आदि काले धंधों ने झोपडपट्टी में प्रतिष्ठा पायी। अनैतिक अवैध शरीर – सम्बन्ध, अवैध मातृत्व आदि की बदबू वहाँ फैलने लगी। कानून तोडना, रिश्वते देना, गुण्डागर्दी करना, आदि प्रवृत्तियाँ वहाँ बल खाने लगी। झोपडपट्टयों के दादाओं को अपने पक्षधर बनाकर नेता लोग अपना उल्लू सीधा करने लगे।"[19]

महाराष्ट्र के बम्बई में "धारावी" की झोपडपट्टी "एशिया" खण्ड में सबसे बडी झोपडपट्टी मानी जाती है। आज बेंगलोर, मद्रास, कलकत्ता, लखनौ, कानपुर, जमशेटपुर, आदि महानगरों में झोपडपट्टी की समस्या वहाँ के जनजीवन को सता रही है। महानगर में स्थित झोपडपट्टी जनजीवन का चित्रण जगदम्बाप्रसाद दिक्षित के "मुरदाघर" भीष्म सहानी के "बसन्ती" शैलेश मटियानी के कबूतरखाना, किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई" "बोरीवली से बोरीबंदर तक" आदि उपन्यासों में देखने को मिलता है। "मुरदाघर" हिन्दी में झोपडपट्टी जनजीवन पर लिखा हुआ एक स्वतंत्र उपन्यास है। मराठी में झोपडपट्टी साहित्य पर "चक्र" "वासूनाका" "माहिमची खाडी" "तो आणि त्याचा मुलगा" आदि कई उपन्यास स्वतंत्र रुप में लिखे गये और मराठी में झोपडपट्टी साहित्य के रुप में एक स्वतंत्र प्रवाह का निर्माण हुआ लगता है कि मराठी के झोपडपट्टी उपन्यास साहित्य के अनुकरण पर जगदम्बाप्रसाद दीक्षितजी ने सन 1974 में इस उपन्यास का सृजन किया होगा।

अतः झोपडपट्टी जनजीवन पर जगदम्बाप्रसाद दीक्षित द्वारा लिखित उपन्यास "मुरदाघर" हिन्दी का पहला स्वतंत्र झोपडपट्टी उपन्यास हो सकता है। यहाँ हम जगदम्बाप्रसाद दीक्षितजी के "मुरदाघर" में चित्रित झोपडपट्टी जनजीवन के विविध आयामों पर सोचेंगे.।

जगदम्बाप्रसाद दीक्षित के "मुरदाघर" उपन्यास ने हिन्दी उपन्यास जगत् में कुछ तहलका मचा दिया। "मुरदाघर" के प्रकाशन से उन्हें हिन्दी के महत्वपूर्ण उपन्यासकार का दर्जा हासिल हुआ और उनका उपन्यास "मुरदाघर" एक कालजयी रचना बन बैठी।

जगदम्बाप्रसार दीक्षित के साहित्य के केन्द्र में या तो बम्बई का निम्न – वर्ग रहता है और या उत्तर प्रदेश से बम्बई आकर बसे निम्न – मध्य वर्ग की परेशानियाँ और उदासी। दीक्षितजी उत्तरप्रदेश के गांव से बम्बई आकर बसे हैं, इसलिए उत्तरप्रदेश के ग्रामीण तथा कस्बाई जीवन और महानगर के जीवन दोनों पर ही उनकी पकड है। "मुरदाघर" जगदम्बाप्रसाद दीक्षित की अब तक की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कथाकृति है।

प्रस्तुत उपन्यास में एक ऐसे विषय को लेखक ने छुआ है जिस पर पहले भी बहुत सारे लेखक लिखते रहे हैं, लेकिन दीक्षितजी ने उसे बिल्कुल नये रुप में पूरी निर्ममता के साथ सृजनात्मक अभिव्यक्ति दी है। यह विषय ऐसा था कि किसी भी लेखक के हाथों इसकी दुर्गति हो सकती थी, लेकिन जगदम्बाप्रसाद दीक्षित ने सधी हुई दृष्टि और सधी हुई कला से इस विषय को छुआ और एक महत्वपूर्ण कालजयी कलाकृति का निर्माण किया. विषय है – वेश्याओं का जीवन और इसके साथ ही साथ महानगरों का वातावरण तथा झोपडपट्टी जनजीवन के विविध आयामा

उपन्यास के आरम्भ में बम्बई शहर का वातावरण हमारी आँखों के सामने उभरने लगता है। उपन्यांस में चित्रित बम्बई संम्पूर्ण बम्बई नहीं है। इस बम्बई में न पंचतारांकित होटल है न फिल्मी स्अुडिओ, न हिन्दी फिल्मों में दिखाई देनेवाली बम्बई की तडक भडक लेकिन उपन्यास मे चित्रित बम्बई एक असलियत है। इसमें भिखारियों, कोठियों, वेश्याओं और छोटे – मोटे अपराध करनेवालों की दुनिया की हकीकत है।

जगदम्बाप्रसाद दीक्षितजी ने विशिष्ट शैली का सृजन करके इस जिन्दगी को वाणी दी, जो देखने में भद्दी और उपेक्षित है। यह दुनिया वास्तव में जैसी है, वैसा ही इसका रुप उपन्यांस में प्रस्तुत होता है। जगदम्बा प्रसाद दीक्षित को इस बात का श्रेय जाता है कि जीवन की इस कठोर एवं घृणित वास्तविकता को उन्होनें इस रुप में प्रस्तुत किया कि पाठक उस वातावरण से तो घृणा करने लगता है, जिसने इन चरित्रों व परिस्थितियों मे फँसे ऊपर से

घृणित व भद्दे लगते इन चरित्रों के प्रति उसके मन में सहानुभूति जागती है ।

उपन्यास का आरम्भ इन शब्दों से होता है--"कचरे का पुराना ढेर और एक पागल आदमी .....घुम -घुमकर ढूँढता रहता है कुछ .....कभी नहीं मिलता ।" कुछ आगे विस्तार है--"दुखता है एक जख्म और रिसता जाता है ।फिर कट गया कोई रेल की पटरियों पर आदमी या जानवर -----कोई फर्क नहीं है । मंडरा रहे हैं कौवे ----- कुत्ते । गटर के पास ----- एक पागल औरत और एक पागल दुनिया -----चीख रहे हैं दोंनो ।"

बम्बई में आधी से आधिक जनसंख्या णेपडपट्टियों में रहती हैं और यह झोपडपट्टियाँ टूटने का बाद दूसरी, तीसरी किसी भी और जगह बसती रहती हैं । ---"मालूम नहीं कहां ..... किस जगह .....तोड दिये गये झोंपडे । मालूम है सिफ इतना कि एक पीली सुबह .....जब सोनेवालों ने आँखें खोली.....गन्दी बस्ती को घेर लिया नीली वरदी वालों ने चारों तरफ से । लम्बे बेंत और डण्डे । .....झोपडेंवाले वहाँ से आ गये यहाँ । आ गई रण्डियाँ भी, बन गये झोंपडे .....एक के बाद एक .....इस तरफ चौडी सडक । दूसरी तरफ.....ऊंची इमारतों की लम्बी कतरा ।तैरती है सफेद रोशनी हर वक्त । उस साफ दुनिया के पास पैदा हो गयी गन्दी दुनिया ।"

"मुरदाघर" कहानी या अकहानी है इसी हर रोज पैदा होती बम्बई की "गन्दी दुनिया की" इस गन्दी दुनिया में हैं...."रण्डिया, कोढी, भिखारी, दारूबाज, दारू का धन्धा करनेवाले, चोर, निठल्ले, भूखे-प्यासे, असमय मरते गन्दे लोंग । कौन पैदा करता है इस गन्दी दुनिया और इन लोंगों को? क्या यह "गन्दे लोग भी इन्सान कहलाने लायक हैं? क्या यह "गन्दे" लोग इन्सान की तरह जीते हैं या नहीं? या क्या आदमी और जानवर" में कोई फर्क हैं या नहीं? इन्हीं सब और इसी तरह के अनेक बेआराम सवालों का सामना किया गया है "मुरदाघर" में यहीं सब बेआराम करनेवाले सवाल उठाये गये है " मुरदाघर" के पाठकों के सामने ।

उपन्यास के शुरू में ही झोंपडियाँ तोडने और फिर दूसरी जगह झोपडियाँ बनाने का जिक्र है । पुलिसवालों द्धारा वेश्याओं को मारकर भगवाने की कोशिशे हो रही हैं, क्योंकि इनकी परेशानियाँ सफेद रोशनीवालों की सताती है । ".....ये आवारा औरतें बदबू और अंधेरा ले आती है दूसरी तरफ से। रोको उन्हें! सरकार.....पुलिस.... क्या करते है सब! रहना मुश्किल है शरीफ लोगों का।"[23]

जो अभिजात्य और अमीर वर्ग है अर्थात सभ्य समाज! इस समाज को यह गन्दगी बरदाश्त नही होती। इसलिए ये लोग मानतेहैं कि, सरकार हो या पुलिस उन्हीं का अपना

फर्ज है कि, जैसे चाहे वैसे इस "गन्दगी" को खतम करे लेकिन पुलिस को इसी "गन्दगी" में डुबकी लगानी होती है। पुलिस के हाथ आती है बशीरन, साहब के सामने पेश करने के लिए, मगर छोड दी जाती है, उम्र ज्यादा होने के कारण।

दारुवाले किश्तैया के यहाँ पुलिस की मार खाई वेश्याएँ दारु पी रही हैं लेकिन वह दारुवाला भी उन्हें भगाता है। मैनाबाई एक है जिसने सुबह से पाव, रोटी और काली चाय पी है, गट्गट् शराब का गिलास पी जाती है। इसप्रकार इनकी लडाई गलियों तक सिमित न रहकर गुस्सें में एक दूसरें से लिपट भी जाती है। मैना और बशिरन वेश्याओं की आपस में खूब मारपीट होती है। झगडा इस बात को लेकर चलता है कि कौन किसके ग्राहक ले जाती है। फिर दोनों को गालियाँ देकर किश्तैया हटाता है। हटने – हटाने के बाद हवलदार आता है और सिगरेट पिता है, चला जाता है। मैनाबाई अपने पति को गालियाँ देती है। उसकी गालियाँ सुनकर रोजी को अपने मर्द की याद आती है, जिसके साथ अपना फोटो खिंचवाकर किसी को अपना मर्द बनाया था लेकिन फिर भी वह भाग गया और रह गयी रोजी खामोशी को, रोने को और धन्धा करने को।

मैना को अपनी "सादी" की बात याद है, जब उसका मर्द चिल्लाकर कहता था कि "पूरा अढाई रुपिया खरच करके सादी बनाया हूँ.....।" रोजी को एक साल से कोढ हो गया है और सबने उसे दूर याने अलग बैठने को कहा। रोजी का झोपडा छीन गया, उसका मर्द भी चला गया लेकिन उस तसवीर में जो उसका मर्द है उसी के इंतजार में रोजी जी रही है।

मैना का पति पोपट जब आता है तो मैना की गालियाँ और तेज होती है। मैना वेश्या धंदा करके कमाती है लेकिन उसका पति पोपट सब रुपिया "सटटेबाजी" में गँवाता है। पोपट और मैना को एक बेटा है जिसका नाम है राजू। राजू भी कोठियों – भिखारियों के संग भीख माँगता घुमता है। पोपट हर बार अपना और मैना को हाजी सेठ जैसे रहने के सपने भी सुनाना है लेकिन वह सपने, सपने ही रह जाते हैं।

किसी कोने से कोई एक शराबी किसी नामालूम को चरिव – चीखकर गालियाँ दे रहा है और ऐसे ही परिस्थितियों में सबेरा होता है। बशीरन के झोपडे में सोई हुई बशीरन नूरन और पारबती नौ – दस बजे उठती है तो उन्हें चाय की तलब सताती है। चायवाला तो पहले पैसे लेकर ही चाय देता है। झोपडे में एक नई छोकरी दिखाई देती है, जो सबको डरी – डरी देखती है और स्वयं भी डरी हुई है। सब उसके नाम – धाम, ग्राम आदि के बारे में पूछते है मगर वह नहीं बताती, चुप रह जाती है। बस रोती ही रोती है। उधर पोपट अपनी पत्नी मैना से दो – चार रुपिया छीनकर ले जाता है। मैना सिर्फ गालियाँ ही बकती जाती है।

होटलों से फेके जानेवाले जुठे खाने का इन्तजार करते हुए झोपडियों के पास बच्चे जुआ खेल रहे हैं।। जब होटलों से जुठन फेंकते है तो छोटे – बडे लडके, कौवे, कुत्ते, मक्खियाँ सभी उस पर झपट पडते है। बडे लडके सबको भगाकर वही जूठन बडे स्वाद से, हर्ष – मान से खाते है।

जब दोपहर ढलती है तो जब्बार की पत्नी हसीनाबाई अपने तीन साल के बेटे को घसाटती जाती है। जब्बार ने भी हसीनाबाई से शादी बहुत सपने दिखाकर और पीटकर की थी जब उसके पति जब्बार को चोरी आदि के अपराध में "तडीपार" किया जाता है, तब हसीनाबाई बैठकर रोती है, अपने नसीब पर।

चंद्री भी एक ऐसा ही पात्र है, जिसके पास रातका अपना कार्यभार पूरा करके एक मजदूर ग्राहक आया है – कुल पचास पइसा लेके खडीबाजी करने निकसलता, सरम नई आता तेरे कू.....।" लेकिन मजदूर भी क्या करे? तीन रुपये कद मजदूरी से दो रुपये उधार के चुकाये, पचास पैसों का पा खाया, बचा खाली पचास पैसा।

शाम होती है तो किसी के मटके में पानी नही है, तो किसी के झोपडे में खाना नहीं है, किसी की ढिबरी में तेल नहीं है। और रन्डियाँ स्वयं को सजाती हैं, ग्राहक मिलने की नाहक आशा से। लेकिन ग्राहक नहीं मिलता। किसी को मिल भी गया तो एकाएक पुलिस की धाड याने की छापा पडता है फिर वेश्याएँ दौडती हैं इधर – उधर। लेकिन कहा तक दोडे – पकडी जाती है, मार खाती हैं, लॉक अप में बंद कर दी जाती है। कुछ और भी अपराधी औरतें वहाँ बंद हैं।

जब्बार अपनी औरत से मिलने आता है तो उसे रोजी मिलती है। रोजीउसकी बीवी का पता लगाने जाती है तो पता चलता है कि जब्बार की पत्नी करीमन के साथ मालाड गई है। जब्बार को यह सुनकर डर लगता है कि हसीना कहीं वेश्या न बन जाये। उसे अपने बेटे अमजद से भी बहुत प्यार है, लेकिन उसके पास कोई काम नहीं है। चोरी वगैर कर वह अपना गुजारा चलाता है। इधर रोजी को अपना मर्द न होने को कारण दुःख है। वह सोचती है –"अइसा लगा था कि अपना एक मरद होना बोलको..... मरद होने से कि नही.... भौत अच्छा होता।.....जो औरत लोक कू मरद होता जब्बार..... वो मौत नसीबवाला होता....।[24]

उधर हवालात में वेश्याओं की हालत बहुत ही खराब है। वह हवालात में चीखती है, आपस में झगडती हैं। नयी छोकरी जो है उसका रोना बन्द नहीं होता। बशीरन उसे समझाती है। मैना को लगाव हो गया है कि उस नयी छोकरी का बाप काठियावाड का पैसेवाला जमींदार है। किसी लडके के जाल मे फँसकर वह बमबई आ गयी और लडका उसे बेचकर भाग गया। माँ – बाँप की इज्जत के लिए यह छोकरी शर्म से अपने घरवालों का नाम – पता नहीं

बताती। मात्र बम्बई की इस अभागी वेश्याओं में एक की वृद्धी करेगी।

जब ये सब हवालत में बंद है गो मॅजिस्ट्रटने सौ – सौ रुपये की जमानत कर दी है। लेकिन सौ रुपये की जमानत देनेवाला भी कोई नहीं है। रोज खोजती है अपने जमानतवाले की, सन्देशा देती है, लेकिन कौन दे जमानत? उनके पास पहनने के लिए दूसरे वस्त्र भी नहीं है। वह नंगी हो – होकर अपनी धोतियाँ – ब्लाऊज धोती है। आँखों में आसूं है जो न गिरकर वही थम जाते हैं। मैना नयी लडकी को कहती है – " ये मुम्बई हे ना?.....बोले मो एक भट्टी है। भौत बडा भट्ठी। और दूर – दूर से....गाँव – गाँव से छोकरी लोक कू लगेला के ये बाजार का भट्ठी में डाता है ये लोका सीधा – भोला छोकरी लोक.....तेरे जइसा....।[25]

वेश्याएँ हवालात से बाहर आ गई है और जिन्दगी का ढर्रा फिर शुरु हो गया है। जब्बार का ध्यान रोजी रखती है, जब्बार को इन्तजार है अपनी बीवी हसीना का, लेकिन वह आती नहीं है। पाईप में मरियम नामक वेश्या को बच्चा होता है और उसका स्वागत गलियों में मरियम इसप्रकार करती है – ".....कायकू आया तू? साला मरदूद? मेरा जिन्दगानी हराम करने कू? कौन बुलाया था तेरे कू? अभी मैं तेरे कू देखूँ की धन्धें को जाऊँ हरामी की अउलादा।"[26]

ख्व्वाजा की दरगाह पर भिखारियों को खाना खिलाने कोई आये है। वहाँ सभी कोढी, भिखारी, बच्चें, बुढे, वेश्याएँ जाते हैं। कोठी और भिखारियों के लिए अलग लाइन लगाई जाती है और उन्हें नाश्ता देते है वह भी – कीमा और पाव।

यह नाश्ता देनेवाले कोई स्मगलिंगवाली पार्टी है।

जब्बार हसीना और बेटे अमजद से मिलकर आया है। वह सोचता है कि उन लोगों को निकाल लाऊँगा। इसके लिए वह स्मगलर के यहाँ चोरी करता है। हसीना और अमजद को लेकर निकलना चाहता है कि उन्हें पुलिस घिरा लेती है। मार देती है, थाने ले जाती है, मगर वह नही बताता कि रुपये कहां रखे है। जब्बार सोचता है कि स्मगलर की चोरी आसान है, लेकिन थाने का अनुभव उसे बताता है कि स्मगलर की चोरी और भी मुश्किल है । पुलिस उस पर इतना अत्याचार करती है कि खामोशी और चीखों के सिवाय उसके पास कुछ नहीं बचता।

उधर पोपट भी तस्करों से मिलकर आखरी चान्स लेना चाहता है और यही चान्स उसकी मौत बनकर आता है। एक लोकल ट्रेन से भागकर दूसरी ट्रेन के नीचे आकर वह कट जाता है। हिजडे आकर मैना को बताते हैं लेकिन मैना स्टेशन पहुँचने से पहले ही पोपट की लाश भायखला के मुरदाघर में पहुंचायी जाती है। मैना तो उसका अंतिम संस्कार न कर पाने

के कारण वह बशीरन के साथ मुरदाघर में केवळ "दर्शन" कराने जाती है । आखिर उसे पोपट की लाश के दर्शन होते हैं ।

बशीर चौकीदार से पूछती है कि लाश का संस्कार होगा या नहीं, चौकीदार बताता है-----"कुछ नहीं होंगा । वो छोकरा लोग जो इधर पढते के वास्ते आता-----उसका काम में आ जाएगा । हडडी का भाव भौत जास्ती है आजकल । पूरा जिस्म का ढाँचा का भाव तीन सौ रूपिया चलता है ।------[27]

मैना और नशीरन वहाँसे लौटती हौं और यही इन शब्दों से उपन्यास का अन्त होता है.

"घुमकर देखती है मैना --------एक मुरदे को । फिर चल पडते है तीनों । गुजरने लगते हैं उस दुनिया से ------ जहाँ चारों तरफ------ बिखरे हुए हैं मुरदे------- उस दुनिया की तरफ-----जहाँ और भी हैं ----- मुरदें-----[28]

इसतरह उपन्यास का यह अंत पाठकों के दिमाग में एक ठण्डे आतंक की अनुभूती छोड जाता है ।

"मुरदाघर" इस उपन्यास में चित्रित झोपडपट्टी जनजीवन के विविध आयाम हम देखते हैं । इस उपन्यास में झोपडपट्टियों के सामन्य जनजीवन को सजीव रूप से दीक्षितजाने अंकित किया है । इसमें बुरे व्यवसाय --वेश्या --व्यवसाय, तस्कर, हातभट्टी, चोरीबाजारी, गुनहगारी, पाकिटमारी, अनैतिक सम्बन्ध, अवैध मातृत्व, कानून तोडना, रिश्वतें देना, गुण्डई करना आदि विविध आयाम हमें यहाँ देखने को मिलते हैं । आसहय गंदगी, भुखमरी, रोगग्रस्तता, लाचारी, यातनाओं को दुःखो को बरदाश्त करनेवाली मजबुरी, कुली, मजदूर, मामुली पेशेवाले, किश्तैये, आवारा छोकरे, टॅक्सीवाले और हिजडे आदि बुरे व्यावसाय से ही झोपडपट्टी में रहनेवाली जनता परिस्थितियों से मजबूर है ।

वैसे ही इस उपन्यास में मैना पोपट, तब्बार- हसीना राजू, अमजद, रोजी--चंदू आदि का जीवन अपनें भीतर पूरी दर्दनाक कहानी समेटे हुए हैं । इस उपन्यास का मूल स्त्रोत वेश्याओं को लेकर ही आगे बढता है । अतः वेश्याओं की जिन्दगी इतनी अधिक टूकडों में बटी और इस तरह की पीडा से भरी है कि उसे इसी तरह की रेखाचित्रात्मक शैली के माध्यम से ही प्रस्तुत किया जा सकता है ।

उपन्यास का आरंभ केवल वेश्याओं से न होकर बम्बई की आधी जनसंख्या की समस्या से होता है । किस तरह पुलिस झोपडें तोड देती हैं और उन झोपडों में बसे लोग किस

तरह दूसरी जगह तलाशकर झोपडे बनाते हैं । जहाँ भी झोंपडे बनते हैं, पास ही कहीं " सफेद दुनिया, भी बसी होती है और उस "सफेद" भद्रलोक दुनिया को झोपडी की गन्दी दुनिया अच्छी नहीं लगती और उनको वहाँ से उखाडने की कोशिशे शुरू हो जाती हैं । जगदम्बाप्रसाद दीक्षितजीने इन झांपडों के सबसे नीचले हिस्से की वेश्याओं और उनके साथ-साथ कोढिया, भिखारियों आदि की जीवनदशा को अपनी सर्जनात्मकता छुअन प्रदान की है । जिससे हमें जानवरों और इनके जीवन से कोई फर्क नजर नहीं आता ।

इसप्रकार हमें आरंम्भसे अंत तक झोपडपट्टी जनजीवन के विविध आयाम यहाँ एक के बाद एक करके सामने आते हैं ।

"दीक्षितजी विचारों से मार्क्सवादी हैं इसलिये मार्क्सवादी से उन्होंनें एक दृष्टि हासिल की वह समाज की इन भयावह परिस्थितियों को, वर्ग समाज को उसकी पूरी भयावहता के साथ, निर्ममता से चित्रित कर सके है, लेकिन उनकी दृष्टि की सीमा है, इसे पूरे समाज को "मुरदा" समाज दिखाने में । इस समाज की तुलना "मुरदाघर" में पडे मुरदों से करने में यही आकर दीक्षितजी अपनी दृष्टि से चूक गये हैं । ऐसी जिन्दगी में भी कहीं-न-कहीं प्रतिरोध और संघर्ष की भावना व कामना है, दीक्षितजी इसे अंकित नहीं कर पाए [29] ।

"मुरदाघर" पर विचार करते हुए प्रसिद्ध कथाकार व समीक्षक राजेश मिश्र का कहना है कि – "मुरदाघर" क्रूर निस्संगता से यथार्थ उभरता है, पर इसमें दिशा या वैचारिक भूमिका नही है।[30]

एक मूर्धन्य समीक्षक डॉ. चन्द्रकांत बांदिवडेकर ने भी "मुरदाघर" की भाषा को प्रभावशाली मानते हुए कहा है कि – "उपन्यास में भाषा की ध्वन्यात्मक शक्ति का प्रचुर उपयोग लेखक ने किया है।"[31]

डॉ. बांदिवडेकरजी ने आगे चलकर कहा है कि – "लेखक पाठकों को यह प्रतीत करा देने में समर्थ हुआ है कि महानगरी की विष्ठास्वरुप यह समूची बस्ती "मुरदाघर" बन गयी है। इस क्षेत्र को संभवतः पहली बार (झोपडपट्टी की इन औरतों का यथार्थ और धनी वारांगनाओं का विलासमयी यथार्थ – दोनों की किस्म ही अलग है।) अंकित करते हुए उसे पुर्णतः एक्जास्ट (निःशेष) करने का श्रेय जगदम्बाप्रसाद दीक्षित को दिया जा सकता है।"[32]

उन्होनें "मुरदाघर" को नागरी जीवन का कोढ कहा है। वास्तव में "मरे हुए जीवित इन्सानों की समस्याओं को व्यक्त करनेवाला यह हिन्दी का प्रथम उपन्यास है।"[33]

"जगदम्बाप्रसाद का "मुरदाघर" हर दृष्टि से एक उत्कृष्ट रचना है। इस रचना में महानगर के उस जीवन का आधार बनाया गया जहाँ सडांध है, थूल है, कीचड है। फुटपाथ की अपाहिज जिन्दगियों का दर्द मानवीय घृणा और सडक तथा झोपडीयों में गन्दी चारपाईयों

पर बिकनेवाले सडे गोस्त का चित्रण इसमें किया गया है। जहाँ जीवन में इतनी जडता आ गयी है कि उसे चेतनामयी बनाना संभव सा है। विविश फुटपाथी अपाहिज आदमियों की आपसी दुश्मनी एवं घृणा संवेदनशील मन को झकझोर डालती है। और पाठक सोचने के लिए विविश हो जाता है कि वह स्वयं इस जिन्दगी का एक अंग है। जिस जीवन को इसमें चित्रित किया गया उसे स्वाभाविक बनाने के लिए लेखक ने जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह निहायत स्पष्ट, सही और नंगी है। "मुरदाघर" की भाषा में इतना निखार आ गया है कि यह हिन्दी उपन्यास के नये मोड का संकेत देता है। वैसे उसमें कथानक की अपेक्षा स्थितियों का चित्रण है। इसमें संकेत है कचरे के ढेर का। यही रचना परिवेश में हावी है। इस "मुरदाघर" में एक खोज है, पागलपन की आक्सरएक नयी दुनिया की। अंत में पाठक केवल सोचते रहने के सिवा कुछ नही कर सकते और यही इस रचना की बडी विशेषता है।[34]

"जगदम्बाप्रसाद दीक्षित की "मुरदाघर" यह औपन्यासिक कृति मानवीय संवेदना की घनीभूत अभिव्यक्ति है। नियोन लाइट से जगमग सफेद इमारतोंवाली सफेदपोश बस्ती के कॉन्ट्रास्ट में बम्बईएक गन्दी, घिनौनी सडांध से भरी हुई झापेडपट्टी की सच्ची यथार्थ तस्वीर को लेखक ने इस खुबी से उबारा है कि हमारे सभ्य समाज की परत – दर – परत खुलती गई है और वह अपने नग्न स्वरुप के साथ चेतना की संवेदनशीलता के कठघरें में आकर उपस्थित हो जाता है। महानगरों की इमारतों के समांतर फुटपाथों पर भी लाखों – करोडों मनुष्य बसते हैं, जो कुत्तों, कौवों और रेंगते हुए कीडों से भी बदतर जिन्दगी बसर करते हैं और जिन्हें समाज की जूठन और गन्दगी के अतिरिक्त कुछ समझा नहीं जाता। उन लोगों की इच्छा – आकांक्षाओं, सपनों आशाओं – निराशाओं, अच्छाईयों बुराइयों को उनकी अभागी – अपाहित जिन्दगी की अभिशप्त नियति को, उनकी सडांध से घिरी धूल और कीच में बरबस औंधी पडी फुटपाथ पर एकदम सपाट गिरी – लेटी मजबूर जिंदगियों के आँसू – रातें दर्द को ज्यों का त्यों उनके अपने परिवेश एवं शैली में चित्रित कर लेखकने दुःसाहस का परिचय दिया है।"[35]

प्रगतिवादी समीक्षक डॉ. शिवकुमार मिश्र कहते है – "यथार्थवादी साहित्य मनुष्य को निराशावादी और नियतिवादी भी नहीं बनाता। मनुष्य को उसके परिवेश से पूर्णतः परिचित कराना हुआ वह उसे विरुपता के प्रति सजग करता है, ताकि वह उसके उन्मूलन के लिए सन्नद्ध कर सके। "समाजवादी यथार्थवाद" का समूचा कृतित्व मनुष्य की उदात्त जीवन–मूल्यों के प्रति आस्था का प्रमाण है। जीवन में जो कुछ श्रेष्ठ और सुन्दर है, यह सबको मनुष्य की शांती समझता है और मनुष्य को उसकी उपलब्धि करने को प्रेरित करता है।"

"दीक्षितजी मानवीय संवेदना के सशक्त कलाकार है। उनके प्रथम उपन्यास "कटा हुआ आसमान" में जहाँ बम्बई की मध्यमवर्गीय जिन्दगी को उसके यथार्थ परिपेक्ष्यों में उद्‌घाटित किया गया है, वहाँ "मुरदाघर" में उस समाज के कटु यथार्थ को कटु यथार्थ की जबान में सम्प्रेषित किया गया है, जिसे श्रेणीबद्ध करना अत्यन्त कठीन है। जो वस्तुतः जीवित मुरदों का समाज है।"[36]

जगदम्बाप्रसादजी के उपन्यास "मुरदाघर" ने उनके लेखन के प्रति औत्सुक्य भाव को अधिक तीव्र कर दिया है। "मुरदाघर" में दीक्षितजी को हम नितान्त भिन्न जमीन पर देखते है। "मुरदाघर" के लिए सर्वथा अनछुआ क्षेत्र चुनकर दीक्षितजी ने अनगोडी जमीन को खोदने का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

बम्बई महानगरी के नारकिय जीवन को उपन्यास का क्षेत्र बनाकर लेखक ने जीवन के कटू, गन्दे और घोर रुप में बिभत्स यथार्थ को कलात्मक स्पर्श देते हुए जीवित किया है और लोकप्रियता के सभी नुस्खों का पूर्णतः परित्याग कर जोखिम भी उठाया है। यह यथार्थ रेल लाइन की ढलान पर बसी झोपडपट्टी की वारांगनाओं के जीवन का है। उस जीवन के सभी भयावह रंग, असहय गन्दे, वीभत्स रस और सिहरानेवाले रूप मूर्त्त किए गये हैं । यह दुनिया बडी घिनोनी है । जवानी की देहली पर पैर रखनेवाली युवतियों से लेकर बुढापे के कारण कंकालत शरीर को भी घृणित रूप में सजाकर देह-विक्रय करने को बाध्य औरत की यह दुनिया है । इसमें धोका खाकर, भुलाने में पडकर या निरूपाय होकर औरतें आती है और जीवन की वीभत्सता से धीरे-धीरे समझौता कर लेती हैं- ग्राहकों को धोका देकर पटाने भी ल लगती है। खून को अंतिम बूँद तक निचुड जाती है। भुखमारी, जेल - जीवन की भयानक यंत्रणा, हर तरह के बदबूदार रोगों से ग्रसत होकर शरी र को गलाने और सडने देने की मजबूरी, मृत्यु के समीप घिसटते जाने की लाचारी सुविधा - भोगी व्यक्ति की कल्पना से भी परे पशु से बदतर जिंदगी की यातनाओं को भोगने की मजबूरी, चौरासी लाख योनियों के बाद मिले मनुष्य जीवन का यह फेरा पूरा करने के लिए पल - पल बहनेवाले पीडादायी व्रण की टीस यह इस दुनिया का यथार्थ है। न जीवित रहते मनोवेचित सन्मान का स्पर्श इन्हें मिलता है न मृत्यु के बाद ढंग से दहन या दफन का हक।

इस संसार के केन्द्र में है झोपडपट्टी की इन औरते की मिचली उत्पन्न करनेवाली जमात। इनको घेरे है रात दिन काम की चक्की पसिनेवाले कुली, मजदूर, चाय, दूध, कबाब, रगडा - पाव बेचनेवाले मामूली पेशेवाले, मजदूरों को कच्ची दारु बेचनेवाला किस्तैया, रंडी का पैसा मारनेवाला मनचला, रगडा - पाव खिलाकर काम साधनेवाले मजदूर, दो बीडी का जुआ खेलनेवाले और कुत्तों के लिए फेके गये गले - सडे बदबूदार अन्न पर

झपट पडनेवाले आवारा छोकरे जवान औरतों से खिलवाड करनेवाले टॅक्सीवाले और ड्राइवर, पियक्कड मजदूरों को अंधेरे में धोखा देकर धंदा करनेवाले हिजडे। इसी बस्ती में रहते है, जब्बार जैसे चोर, तडीपार किये गये, परंतु औरत और बच्चे के लगाव से खिंचकर चोरी – चुपके आनेवाले और पुलिस के पंजो में पडकर मसल दिए जानेवाले इन्सान। इस दुनिया के एक ओर रहते है शिष्ट, सभ्य, सफेदपोश लोग, जिनमें तस्करी करनेवाले भी है जो पुलिस को हप्ता देते रहते है और स्वाभाविकतः इस दुनिया को रौंदने के लिए आते है पुलिस के सिपाही, हवलदार, इन्स्पेक्टर।

जगदम्बाप्रसाद दीक्षित का उपन्यास "मुरदाघर" – 1974 एक अमानवीय व्यवस्था के दलदल में छटपटाते हुए उन असंख्य मनुष्यों का उपन्यास है, जिनकी रोजाना जिन्दगी में घटते हुए बेपनाह भयावह हादसों का कोई ब्यौरा पिछले पूरे हिन्दी उपन्यास के इतिहास क्रम में कही उपलब्ध नही होता, लेकिन जो स्वतंत्रता के सत्ता इस साल गुजर जाने के बाद भी भारतीय समाज के सभ्य और गर्वीले शहरी चेहरे पर फूटा हुआ कोढ बनकर कायम है। महानगरी बम्बई में जहाँ एक तरफ चमचमाती हुई कारों और गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में रहनेवाले सफेद पोशों की अभिजात दुनिया है वही दूसरी ओर सडक के किनारे फुटपाथों पर पुल के नीचे गन्दी खोट्टों में गटरों के पास सीलन और सडांध भरे झोपडों में, भयंकर रोगों से ग्रस्त तथा आर्थिक रुप से मजबूर रंडियों कोढियों अपाहिजों, भिखारियों या कूडों पर फेके गये जूठन पर जीनेवाले आवारा छोकरों, चोर, उच्चक्कों, जुआरियों और गुण्डों का बजबजाता हुआ अपना अलग संसार है, जो पूँजीवादी समाजव्यवस्था की विकृतियों, विसंगतीयों और विषमताओं की उपज है। इस सामाजिक गन्दगी के भयावह दबाव को जगदम्बाप्रसाद दीक्षित ने सृजनात्मक स्तर पर झेला और रचा है।

"एक समीक्षकने तो यहाँ तक लिख दिया है कि कोठ, घिनौनी यौन बिमारियाँ, विकृतियाँ, गन्दगी, सहन, बदबू, भुखमरी, गालियाँ और पुलिस की लाठियाँ इन सब से लबालब भरा हुआ यह उपन्यास वीभत्सता का एक स्तूप है।"[37]

लेखकने व्यवस्था की क्रूरता और उसके निर्मम आतंक का भयावह चित्रण किया है। उसने गजानन माधव मुक्तिबोध की काव्यभाषा को उपन्यास के क्षेत्र में रचनात्मक स्तर पर प्रयुक्त कर हिन्दी उपन्यास को नया मोड प्रदान किया है। जेम्स ज्वायस के "युलिसिस" के गतिशील बिम्बों, धाराप्रवाह चित्रों और मनस्थितियों के यथावत अंकन के शिल्प को कलात्मकता के साथ अपनाकर लेखक यथार्थ को उसकी समग्रता में उकेरने का सार्थक प्रयास करता है। नरेन्द्र मोहन के शब्दों में "दीक्षित की औपन्यासिक भाषा की

विशेषता यह है कि इसकी संरचना और वाक्य – विन्यास में कविता की लय का प्रयोग हुआ है, अलग से कवित्व की चमक कही नही है। भाषा के संरचनात्मक विधान में कविता की शक्ति करे गूँथ। देने के कारण यहाँ भाषा उत्तेजना या आवेग मे बँधी हुई है, बिफरी नही है। इस भाषा से स्थितियों को सीधे और ठेठ रुप में प्रस्तुत करने और उत्कट संवेदनात्मक बोध जगाने की क्षमता अर्जित की गई है।

मानवता की लावारस पडी लाश के इर्द – मिर्द लेखक ने जीवित मुर्दो का संसार रचा है जहाँ औरते पेट की आग बुझाने के लिए रँडियाँ बनने पर मजबूर है। हडहडाई हट्टियों के काले ढाँचे पर लगाया गया मोगरे के फूलों का गजरा मुरझा जाता है, प्रतिक्षा करते करते मैनाबाई थक जाती है और फिर वही सवाल शैतान की तरह मुँह बाये खडा हो जाता है, जिससे उसे हर सुबह – श्याम जूझना पडता है कि – कैसे जले चूल्हा? सिर्फ जिन्दा रहने के लिये जिन्दगी की मजबुरियाँ आदमी को किस कदर टुच्चा, कमीना, बेशर्म, बेहया और स्वार्थी बना डालती हैं इसको लेखक यथार्थ रूप में अंकित करता है। रंडियों की आपसी छीना–झपटी और नोंक–झोंक, उनकी दहशत भरी विवशता और छिसटती जिन्दगी के बीच आपसी गली–गलैज को लेखक उपन्यास के सृजनात्मक रचना में कलात्मक कुशलता के साथ गूँथ देता है जिस स्वीकार करते हुए डॉ. इन्द्रनाथ मदान ने इस उपन्यास के बारे में कहा––––"इसमें आधुनिकता का बोध उस पहलू का है जो अकेपन और बेगानेपन के बोध को उजागर करता है, लेकिन व्यंग्य के स्तर पर इसे काटता चलता है, इसमें रमता नहीं है।"[38]

फुटपाथ के अंधेरे कोने में मैले गुदडों के बीच उसने घर बसाने की ललक से बडा सहजकर एक मैले डिब्बे में एक मरद की तस्वीर रख छोडी है। प्रतिदिन अपनी गली सिकुडी उँगलियों से उसकी खोज में वह दूर का चक्कर काट आती है। वह हार नहीं मानती और उसका इन्तजार जारी है। यहाँ विसंगति बोधकी तिक्तता में व्यंग्य के साथ अजनबीपन का मिल–जुला स्वर उठता है। इस अन्तहीन प्रतिक्षा के शिकार सारे पात्र हैं जिसका सन्दर्भ सम्बन्यों और मूल्यों के अजनबीपन से जुडा है।

मैनाबाई पोपट से खीझकर कहती है:"क्या बोला था तू––––– धन्धा करेगा और पेट भरेगा मेरा। अब धन्धा करती में और पेट भरती तेरा–––––" पोपट उसे मनाने के अंदाज में उबासियों के बीच कहता है कि वह "एकच धन्धा करेगा और सब घाटा पूरा करेगा
और सब घाटा पूरा करेगा। और मैनाबाई बिफर पडती है:"कब होगा तेरा वो एकच धन्धा? म मेरी मैयत का पीछू? सुबू से चूल्हा नई जला। शाम से कुतिया का माफक रौंड मारती। एक घराक नही मिलता। मर गये सब के सबा रोज ऐसाइच। मै क्या जिनावर हूँ बोल ना। क्या बोला था तू.....चाली में खोली लेके देऊँगा – दो बखत का रोटी – लुगडा – बिलाउज – सनीमा ले के जाउँगा ये करुंगा – वो करुंगा। किधर गया वो सब? गधी की गाँड में घुस गया।

साला झूठा। क्या हाल कर दिया मेरा। आज इसके नीचू तो कल उसके फिर भी भूखो मरती। उधर छोकरा हाटेल का सडेला – पडेला खाता। काय कू सब झूठा बात किया तू? और पोपट निहायत मासूमियत भरे आशावाद के साथ जो कहता है वह अनतहिन प्रतिक्षा की विडम्बना से जुडा हुआ है जो मानवीय नियति की विवशता के सन्दर्भो को उजागर करता है। "....मै झूठा बात कभी नई किया। सब करेगा मै..... पन झूठा बात नई करेगा। पहले बोला....अभी बोलता....मेरी जिन्दगानी में खाली एकच बात है.... तेरे कू चाली में खोली ले के देना.... तेरे कू अच्छा लुगडा ला के देना तेरे कू इधर से ले जाना। और मैं तेरे कू बोलता मैना याद रख..... एक दिन मेरा अैम जरुर आयेगा.....जरुर आयेगा। तब तू बोलना मेरे कू.....।"

मैना को लेकर पोपट अपने अंधेरे झोपडे में चला जाता है और हाजी उमर के किस्से सुनाता हुआ "इस्मगालिंग" का सपना देखता है क्योंकि मजूरी करके आज तक किसने "खोली" लिया है या मकान बाँधा है। पर सुबह होते ही मैना की गाढी कमाई जबर्दस्ती छीनकर उसे धकियते हुए पोपट जुआ खेलने चला जाता है। "यह झूठा आशावाद और अन्तहीन प्रतिक्षा व्यक्ति को कैसे सारे मूल्यों और मानवीय सम्बन्धों से काटकर अजनबी बना देती है, इसका प्रामाणिक अंकन लेखक यहाँ करता है।"

प्रेमचंद के पात्रों में आतंकित करनेवाले जमींदार, कारिन्दे, सामाजिक, धार्मिक रुढियों के ठेकेदार ब्राम्हण और सूखखोर महाजन है, जबकि दीक्षित के पात्रों को आतंकित करनेवाले है सफेदपोश और बर्बर पुलिस। समय के साथ बदले हुए सन्दर्भो को लेखक ने कुशलता से पहचाना है।[39]

प्रस्तुत उपन्यास की भाषा अपने आप में एक उपलब्धि है और केवल भाषा के लिए भी यह उपन्यास हिन्दी औपन्यासिक साहित्य में विशिष्टता प्राप्त कर सकता है। यह भाषा मराठी से प्रभावित बम्बई की हिन्दी है, जो प्रायः बम्बई के आम लोगों की भाषा है – अहिन्दी भाषियों की जिन्होने कभी हिन्दी को भाषा के रुप में नही सीखा। झोपडपट्टी की वारांगनाओं के जीवन का यथार्थ अन्य किसी भाषा में प्रकट होना असम्भव था। गालियों, अशिष्ट शब्दों के प्रचुर प्रयोगों और विशिष्ट जीवन की खास शब्दावली के कारण भाषा के स्तर पर यह रचना अप्रतिम हो गई है। इसमें कही – कही आंतरिक आवेग से बोलचाल की लय को लेकर काव्यात्मकता उत्पन्न होती है। वस्तुतः भाषा और शिष्टता के संस्कारों से पूर्णता रहित व्यक्तियों के जीवन को व्यक्त करते समय लेखक को कितनी ही चुनैतियाँ झेलनी पडती है। भाषा की ध्वन्यात्मक शक्ति का प्रचुर उपयोग लेखक ने किया है। जीवनविषयक कितने ही सत्य सहज और बेबाक रुप में व्यक्त होते रहते है।"

"जगदम्बाप्रसाद दीक्षितने अपने उपन्यास "मुरदाघर" में मानव स्थिति के एक बिल्कुल भिन्न रुप को उजागर किया है। इसमें सामान्य बंबइया भाषा के जबरदस्त सर्जनात्मक प्रयोग

समाज के एक निम्नतम वर्ग की हालत का एहसास उपजाया गया है। महज जिंदा रहने के लिए जिंदगी मजबुरियां आदमी को किस कदर टुच्चा, कमीना, बेशर्म और बेहया बना देती है, उसे एक ही क्षण में मानवीय और अमानवीय बना डालती है, इसका यथावत और प्रकृत चित्रण इस उपन्यांस मे हुआ है।[40] आधुनिक सभ्यता का संकट महानगरीय झुग्गी – झोपडपट्टी के रुप में खडा रहा है, इस पर लेखकने संकेत करते हुए भी इन लोगों के प्रति सहानुभूति दिखाई है।

"मुरदाघर" में भारतीय जीवन की पस्ती और विसंगतियों को सही संदर्भ में प्रस्तुत यिा है, आर्थिक वितुलन और उससे उत्पन्न आक्रोश भी इस उपन्यास में व्यंजित हुआ है। आर्थिक वितुलन आत्मीयता हीन परिस्थितियों को न केवल सर्जित करता है बल्कि सामाजिक मूल्यों और सामाजिक संस्कृति की हत्या करता है।[41]

"जगदम्बाप्रसाद दीक्षित के "मुरदाघर" उपन्यास ने बम्बइया हिन्दी भाषा के जबरदस्त सर्जनात्मक प्रयोगद्वारा आधुनिक भीषण परिवेश में पले समाज के एक निम्नतम वर्ग वेशवर्ग की हालत का बीभत्स, भयावह किन्तु यथार्थ अहसास उपजाया है। परम्परागत भाषा के समस्त ढाँचे को मरोडकर फेक दिया है..... बम्बई के एक तबके ने नारकीय जीवन को लेखकने उसके कटु, गंदे, भयावह और घोर रुप एवं बीभत्स तथ जुगुप्साजनक यथार्थता को भी कलातक स्पर्श देते हुए रुपायित किया है।"[42]

**निष्कर्ष :–**

जगदम्बाप्रसाद दीक्षित का "मुरदाघर" नागरी जीवन का कोढ लगता है। इस उपन्यास के लिए दीक्षितजी ने महानगर की अनछुई जमीन को खोदने का काम साहस के साथ किया है। इस उपन्यास में झोपडपट्टी जनजीवन ले भयावह रंग, असह्य गंदगी, बीभत्स और सिहरनेवाले रुप को मूर्त किया है। इस झुग्गी बस्ती में जवानी की देहली पर पैर रखनेवाली और बुढापे के कारण अपने हडडमिय शरीर को भी घृणित रुप में सजाकर देह – विक्रय करने वाली औरते है। धोखा खाकर, भुलावे में पडकर इस बस्ती में प्रविष्ट हुई औरतें भी यहाँ जो धीरे धीरे इस घृणित जिंदगी से समाझौता कर लेती है। यहाँ भूखमारी, जेलजीवन की भयानक यंत्रणा है, यहाँ असाध्य रोगों से पीडित मरीज है, पशु से भी बदतर जिंदगी यापन करनेवाले मजबुर लोगों की दुनिया का यह यथार्थ है। यहाँ कुली, मामूली पेशेवाले मनचले, मजदूर, जुआरी, किस्तये, हिजडे, जैसे अनेक प्रकार के लोगों के भावविश्व को साकार किया है। इसमें महानगर के गंदगी से ओत प्रोत भरे भाग का चित्रण आया है। यहाँ फुटपाथ की अपाहिज जिंदगी जिनेवाले लोग भी है। इस जीवन को चित्रित करने के लिए लेखकने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह निहायत स्पष्ट और नंगी है। "मुरदाघर" की निखरी हुई भाषा

ने हिन्दी उपन्यास के नये मोड का संकेत दिया है। इस उपन्यास में कथानक की अपेक्षा स्थितियों का चित्रण अधिक आया है। कचरे के ढेर पर कुछ तलाशता हुआ एक पागल का प्रतिक दिखाकर लेखकने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि मुरदाघर में खोज है एक पागलपन की और एक नई दुनिया की। इस नय दुनिया पर पाठक केवल सोचते रहते है, कुछ कर नही सकते।

इस उपन्यास की भाषा अपने आप में एक उपलब्धि है। केवल भाषा के लिए ही यह उपन्यास हिन्दी औपन्यासिक साहित्य में विशिष्टता प्रदान कर सका। इस उपन्यास की भाषा मराठी से प्रभावित बम्बइया हिन्दी है। झोपडपट्टी की वारांगनाओं का जीवन यथार्थ रुप में प्रकट करने के लिए लेखक नें इस भाषा का प्रयोग किया है। गालियों, अश्लिष्ट शब्दों के प्रयोग के कारण भाषा के स्तर पर यह रचना अप्रतिम बन बैठी है। इसमें काव्यात्मकता, ध्वन्यात्मकता देखने को मिलती है। यह एक सफल एवं कालजयी रचना हो सकती है।

## भीष्म सहानी : "बसन्ती" 1980

"बसन्ती" में जीवन के अधिकार की दृष्टि से आजादी पर बार बार प्रहार किये जाने की कथाएँ कोई इस पर एतराज कर सकता है क्योंकि "बसन्ती" में आजादी के लिए संघर्ष का तो कही पता भी नही है, फिर आजादी पर प्रहार की बात कहाँ से आ गयी? लेकिन क्या सच नही है कि आजादी के साथ बँधी उम्मीदों के लुट जाने की कचोट भारत के हर जागरुक नागरिक को आज भी बार – बार होती है। इसलिए जीवन की हर दुर्घटना को यदि हम आजादी से बँधी अपेक्षाओं से जोडकर देखने का प्रयत्न करें तो गलत क्या है? और बसन्ती क्या आपने जीवन की आजादी या स्वतंत्रता के लिए ही पारम्पारिक सीमा को तोडकर नही भटकती फिरती है?

सबसे पहले हम यही देखे कि "बसन्ती" की कथावस्तु मूलतः है क्या? पुस्तक के प्लैप पर छपी छोटी सी टिप्पणी में जिसे हम प्रकाशकीय समझें कहा गया है – "भीष्मजीने इस उपन्यांस में एक ऐसी लडकी का चित्रण किया है जो मेहनत मजदूरी करने के लिए महानगरों में आये ग्रामीण परिवार की कठिनाइयों के साथ – साथ बडी होती है और निरन्तर बडी होती जाती है।" यह ठीक है कि बसन्ती का जीवन कथासूत्र का काम करता है, लेकिन इस उपन्यास की कथा का तानाबाना देखे तो बात कुढ और मालुम पडेगी।

उपन्यास का प्रारंभ होता है देश की राजधानी दिल्ली में अवैध रुप से बसी बस्तीवालों के बीच बस्ती की अस्तित्व रक्षा का चिन्ता से और तुरन्त ही हम देखते है कि बस्ती पर पुलिस दल का हमला होता है और मकान तोडे जाने लगते है थोडी ही देर में सब – कुछ उजड जाता है। पूरी की पूरी आबादी उस बस्ती से उठाकर वहाँ से पाँच मील दूर पहूँचा दी जाती है, एकदम खुंले मैदान में और फिर उपन्यास का अन्त भी होता है उसी तोड–फोड से, "दीवार के पास एक पुलिस का सिपाही खडा, बडी सी गैती के साथ चबूतरा तोड रहा था।" इस तरह देश देश की आजादी के इस हिस्से की जिन्दगी निरन्तर तोड–फोड, उखाड–पछाउ की प्रक्रिया मे है। ये लोग खानाबदोश नही है, लेकिन इनका जीवन उनसे बदतर ही है, क्योंकि खानाबदोशों की तो स्वयं स्वीकृत जीवन पद्धती ऐसी है कि वे अपना घर कन्धो पर लिए फिरते है और यहाँ "बसन्ती" के लोग बार–बार अपने को एक जगह बसाने के लिए घर बनाते है, पक्का घर तक बना लेते है और सरकार बार – बार उनके घरों को ध्वस्त करके उन्हे बेघरबार और बेरोजगार बना देती है और यह सब करती है कानून के नाम पर जबकि, देश के संविधान में यह प्रावधान है कि भारत का कोई नागरिक देश के किसी भी हिस्से में बस सकता है और अपने लिए कोई रोजगार चुन सकता है।

बसने और रोजगार चुनने की भौतिक सुविधा के अभाव में यह प्रावधान कितना निरर्थक है और उसके फलस्वरुप मनुष्य का जीवन कितना खोखला हो जाता है, यह "बसन्ती" में अच्छी तरह चित्रित किया गया है। खूबी यह है कि जिन्दगी के उजाडे जाने का दर्द पाठक की चेतना में अनायास इस तरह उतरता है कि हमारी पूरी वर्तमान व्यवस्था की अमानुषिकता बेपर्द हो जाती है।

वह किन लोगों की बस्ती है जो बार – वार उजाड दी जाती हैं? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने जब हम बढते है, तो उस यथार्थ का विस्तृत्व और गहरा ज्ञान मिलता है।" बस्ती क्या थी? दिल्ली की ही एक सडक के किनारे छोटा सा राजस्थान बना हुआ थ। आजादी के बाद दिल्ली शहर फैलने लगा था। नयी – नयी बस्तियों की उसारी होने लगी थी और उन बस्तियों को बनाने के लिए जगह – जगह से राज – मजदूर खींचे आने गे थे। दिल्ली से दूर जहाँ कही सूखा पडताण्या बाढ आती वही से लोग उठ – उठकर दिल्ली की ओर भागने लगते। कही परिवार के परिवार चले आये, कही अकेले कर्द कही छोटे उम्र के लौंडे लडके भी। कही राजस्थान से तो कही हरयाणा और पंजाब के गाँवो से, और कही दूर दक्षिण से भी पर राज–मजदूरी के काम के लिए सबसे ज्यादा लोग राजस्थान से ही आये। रोजगार की तलाश में राजमजदूर ही नही, धोबी, नाई, चाय – पानवाले और भी तरह – तरह के धन्दे करनेवाले लोग पहुँचने लगे।"[43] जाहिर है कि दिल्ली की यह बस्ती आजादी के बाद देश के विभिन्न हिस्सों में लोगों के जीवन में उत्पन्न समस्याओं से पैदा हुई, अतः उसे देश भर के सामाजिक जीवन में उभरी समस्याओं का धनीभूत रुप भी कहा जा सकता है। यह पुराने जमाने के ढंग से बनी हुई नही बल्कि नये ढंग से बनी हुअी बस्ती है। आजादी के बाद दिल्ली शहर फैलने लगा और देश के विभिन्न राज्यों में कही सूखा पड रहा है, कही बाढ आ गयी और लोग "रोजगार की तलाश में दिल्लद पहुँचने लगे" यानी यह कोई एक – दो घटना नही, बल्कि प्रकिया है। इस प्रकार में एक तरफ हमारे राष्ट्रीय समाजिक यथार्थ के अनेक अन्तर्विरोध उभरकर सामने आते है तो दूसरी तरफ जीवन में आ रहे परविर्तन का भी बोध होता है। एक अन्तर्विरोध यही हक कि दिल्ली फैलने लगी और देश के विभिन्न हिस्सों में अकाल पडने लगा फलतः गाँव उजडने लगे। हीरा कहता हैं–" हमारे बाप दादा भी जमीन– ज जायदादवाले थे, अभी भी राजस्थान में हमारी अपनी खेती है। अब वहाँ सूखा पडे तो हम क्या करें? बाल–बच्चों का पेट पालने के लिए दिल्ली चले आये। .....अब तो यहाँ रहते भी बरस बीत गये। घर पक्का बना लिया तो क्या गुनाह किया?"[44] इस सिलसिलें में जीवन के परिवर्तन की जिस प्रक्रिया में वे पडते हैं उस देखना चाहिए। "दिल्ली के बाशिन्दे बन जाने के बावजूद कभी शाम सबरे किसी वक्त इस नगरी में जाओ तो लगता है जैसे राजस्थान के ही किसी कस्बे में पहुँच गये हो।" ऐसा इसलिये कि स्वभावतः वे अपने संस्कार रीति–रीवाज

आदि साथ लिए आये थे क्योंकि ये ऐसी चीजें नहीं है जिनको ईंट–पत्थर या जमीन की तरह स्थान परिवर्तन के साथ पीछे छोड दिया जाये। दिल्ली में बनी उस बस्ती में भी "रेग–बिरंगें घाघरे, पाँवों में छनकती पाजबे, चारों ओर राजस्थानी रंग छिटते रहते हैं झोपडों की दीवारों पर राजस्थानी चलन के ही अनुसार कहीं मोर तो, कहीं हाथी तो कहीं सरपटदौडते चेतक घोडे के चित्र बने रहते।[45] दूसरी तरफ इस राजस्थानी संस्कार सम्पर्क शहर सुविधाओं से भी हो गया। "जहाँ गलियाँ कच्ची थीं वहाँ धीरे–धीरे चौके बिछ गये, पक्की गलियाँ बन गयी। पानी का बडा पाईप इधर से होकर जाता था, इसलिए कह–सुनकर तीन जगह पर नल भी लग गये।"[46]। इसतरह एक लम्बा समय बात जाता है वहाँ रहते–रहते।" पक्की कोठरियों के साथ–साथ एक –दूसरे को बाँधनेवाले सूत्र और तन्तू भी पक्के होने लगे। दो–दो पीढियाँ बस्ती में उम्र लाँघने लगी। ऐसे छोकरे–छोकरियाँ जिन्होंने राजस्थान की धरति को कभी देखा नही था, बस्ती और बस्ती के बाहर रमेशनगर की सडकों पर घूमती–दौडती– फिरतीं। लडकियाँ बिन्दी, लिपिस्टिक लगातीं, फोटो खिंचवाती और शहर में टेलीविजन आ जाने पर शाम को किस–न किस घर की खिडकी से झाँक– झाँकरि टेलीविजन देखती। उनकी बस्ती में ।डिओं और ट्राजिस्टरों पर फिल्मी गाने गूँजते, नयी पौध को दिल्ली की हवा लगने लगी थी। ..... कहीं –कहीं पर तो नयें नयें गुल भी खिलने लगे थे। साहू की बेटी राधा, दो बच्चों की माँ बाहर किसी बस कन्डक्टर के साथ भाग गयी। लौंडेलपाडों को शराब, जुआ और आवारा गर्दी की लत पडने लगी।"यह है आजादी के बाद के भारत का संक्रमणशील सामाजिक जीवन। लेकिन इस संक्रमण की त्रासदि यह है कि पुराना छूटा रहा है टूटा रहा है, उजेड रहा है लेकिन नयी और बेहतर जीवन–व्यावस्था का पता नहीं है। इस प्रसेग में उपन्यास का इन्तिम वाक्य देखिए –"और बसन्ती पप्पू को छाती से लगाये पिछली सडक की ओर घूम गयी।"[47] पिछली सडक की ओर"इसलिए कि आग जाने के लिए कोई सडक नहीं है। यह एक वाक्य एक स्थिति को व्यक्त करता है। जो संकटग्रस्त है और संकट इस व्यवस्था की रक्षा में सरकारी प्रहार से उत्पन्त हुआ है। लेकिन इसे समझ पाने में लोग असमर्थ है। फलतः देश की आजादी के रूप में उतरी है। ऐसी हालत में लोगों को लगता है कि "कोई चक्र चला और सब ध्वस्त हो गया।"लेकिन लेखक की टिपणी है––6

"वास्तव में काल का कोई चक्र नहीं चलता। इन्सानें की बस्ती तोडने के लिए दुसरे इन्सान ही कालचक्र चलाता है, वही इसे रौंद डालते है।"[48] और इन्सान की बस्ती उजड जाती हैतो खुश कौन होते हैं? लेखक के शब्दों मेंह,"।ियारा और साँप और उल्लू और अन्य

जीव –जन्तू तो केवल इस ताक में रहते है कि कब कोई बस्ती खदेड दी जासे और कही पर जाकर अपना आधिपत्य जमा ले।"[49]

यदयापि लोग अपने जीवन की दुर्दशा का कारण नही समझ पातें चक्र के चलने का उन्हे अनुभव होता है फिर भी ऐसा नही है कि उनकी समझ एकदम जड हो गयी है। सामाजिक संक्रमण का प्रभाव उनकी सामाजिक चेतना पर भी पडता है, वैसे ऐसी अवस्था में चेतना का अन्तर्विरोधों का ग्रस्त होना स्वाभाविक है। एक तरफ उन्हें अपनी श्रम – शक्ति का एहसास हो रहा है, तो दूसरी तरफ वे भाग्य – लेख की विवशता में भी बँधे महसूस करते है। जब बस्तीवालों के प्रतिनिधी बस्ती को टूटने से बचाने की कोशिशमें सरकारी अधिकारियों के पास जाते है तो कहते है –"मालिक, हम राजमिस्त्री, हम ही घर बनावें और हमारे ही रहने को ठौर नही, लोगों लो घर जुटावै और अपना सिर छिपाने के लिये जगह ही नही।[50] जाहिर है कि वे सामाजिक असंगति को समझने लगे है लेकिन उनके पास वैज्ञानिक समझ नही है, इसलिए अपनी स्थिति के बारे में जब आपस में बातें करते है तो कहते है – "हमारे भाग खोटे थे हम मिस्त्री मजूर बने।" यदि उनके जीवन में यह व्यथा नहीं होती तो क्यों वे भाग्य को कोसते? शहर में लम्बे समय से रहकर जीवन का समान दर्द भोगते हुए भी उनमें जातीय विभेद का संस्कार मौजूद है, बावजूद इसके कि जाति – प्रथा के टूटने के भातिक धरातल पर वे पहुँच गये। दिल्ली में रोजगार का पुश्तैनी कर्म छूट जाता है। चौधरी अहीर है, लेकिन वह नाई का काम करता है।"बरसों से इस बस्ती के छोर पर रहने के बावजूद उसे (चौधरी को) अभी भी बाहर का, छोटी जात का आदमी ही माना जाता था।[51] इतना ही नही."मंगलू राजपूत का बेटा" भी नाई का काम करता है और जब जगह के लिए चौधरी से उसका झगडा होता है तो वह कहता हक – "मंगलू राजपूत का बेटा हूँ, चाचा, पर दिल्ली में जात नही चलती। जात गाँव में चलती है। तुमने पूछा तो बता दिया। दिल्ली में अहीर बहुत है, राजपूत भी बहुत है।[52] अगली और पिछली दोनो जातियों के परम्परागत कर्म छूट रहे है।

उपन्यास के आरंभिक अंश की इतनी चर्चा हमने इसलिए की कि यही अंश आगे की पूरी कथा की, पूरे घटनाक्रम की ओर मुख्य चरित्रों के विकास की आधारशिला है। "बसन्ती" में कथा के प्रारंभिक अंश से पूरे उपन्यास कथ्य प्रकाशित होता है। वास्तविक कथ्य बसन्ती के जीवन का दर्द या जीजिविषा नहीं बल्कि समस्त भारतीय समाज की साधनहीन मानवीय जीजिविषा और पूंजीवादी व्यवस्था की अमानुषिकता के बीच टकराव है। व्यवस्था की अमानुषिकता सरकार के उत्तरदायित्हीन खैये में व्यक्त होती है। यह कथ्य आरंभ और अंत दोनों ओर तोड – फोड की घटना के दो किनारों के बीच बहते हुए घटना प्रवाह से पुष्ट होता है। इस उपन्यास की एक बडी विशेषता यह है कि इसकी कथा हमारे देश की एकदम

ताजा घटनाओं पर आधारित है। "दिल्ली ही नहीं देश के तमाम छोटे बडे नगरों में पिछले वर्षो में नगर को खुबसुरत बनाने के नाम पर मकानों एवं झोपडियों को उजाडने के जो अभियान चले है उनको कथा का विषय बनानेवाला हिन्दी में यह पहला उपन्यास है।[53]

इसप्रकार यह हमारे साथ चलनेवाले यथार्थ का चित्रण है। इससे न केवल अपने परिवेश, बल्कि अपने समय के धडकनों के प्रति भी लेखक की सजगता और संवेदनशिलता का अनुभव हमे होता है। "बसन्ती" की घटनाएँ भी आपातकाल फिर जनता पार्टी शासनकाल और पुनः लौटे कॉंग्रेस (ई) शासनकाल में चलाये गये झोपडी – उजाडन अभियान को मूर्त्त कर देती है।"[54] भीष्म साहनी की खूबी यह है कि वे जीने के लिए मनुष्य की योजनाओं एवं सपनों को क्रूरतापूर्वक धास्त किये जाने का दर्द तीव्रता से अनुभव करा देता है।

"बसन्ती" में वर्णित सामाजिक यथार्थ के भीतर कई महत्वपुर्ण पहलू संक्षेप में, लघु रुप में चित्रित हुए है उनका पूरा विकास नही हो सका है, फिर भी उनकी हकीकत का अनुभव पाठक को हो जाता है। एक ऐसा पहलू है अफसरशाही का, जिसके स्वरुप का प्रारंभ में ही जिक्र भर है, लेकिन उसके अस्तित्व और व्यवहार का भरपूर नतीजा झोपडी उजाडन – अभियान में अनुभूत हो जाता है,क्योंकि एक तो बरसों से बने पक्के मकान तक तोड दिये गये, दूसरे एकदम "मेह – बरसात मेंइसीलिए हीरा कहता है –"हाकिम अच्छा मिल जाये, यह भी किसमत की बात है।"[55] अफसरशाही और पुलिस की क्रूरता का अनुभव तब और होता है, जब हम देखते है वे न केवल मकानों को तोड देते है, बल्कि लोगों के सामान को तितर – बितर कर देते है, यहाँ तक की लोगों को दुसरी जगह ले जाते हुए सारा सामान भी नही ले जाने देते है। दूसरा पहलू है स्वयं बस्तीवालों का चरित्र। बस्ती में तरह – तरह के लोग है। एक चौधरी है जो बेटी बेचने में भी नही हिचकता, यहाँ तक कि बसन्ती के पेट के बच्चे का भी दाम अलक से दो सौ रुपये ले लेता है। फिर लँगडा दर्जी बुलाकी है, जो साठ साल की आवस्था में भी लडकी खरीदकर शादी करता है। बस्ती के ओर लोगों में हीरा जैसे लोग भी है, जो दिल्ली में भी गाँव के वैसे दलालों की तरह लगते है, जो हाकिमों के पास पैरवी करने की अपनी कला पर मिथ्या गर्व करते है। गाँववाले दिल्ली में भी पंचायत उसी तरह लगाते होंगे। "यों अब पंचायत किसी नुचे–खुचे फटे–पुरानें चिथडे –सी रह गयी थी।"बीहड मौदान में वे नयी बस्ती बनाने की समस्या पर विचार करते हैं और जब बोधराज "उधर बस्ती टूटी क्या कर लिया पंचायत ने "कहकर पंचायत की निरर्थकता बताता है तो मतीराम कहता है---" यह तो हम भी जानते है कि कुछ नहीं कर सकते पर मिल बैठते तो हैं, अपने अपने सुख–दुख की बात तो करते हैं।[56]"

उपन्यासय में दीनू जैसा नौजवान है जो शहरी वातावरण में पुरूषोचित अहंकार एवं धूर्तता से भरा हुआ है। उसके व्यक्तित्व के इन पहलुओं की अभिव्यक्ति बसन्ती के साथ उसके स्वार्थपूर्ण सम्बन्ध और उसे बेहिचल तोड देने के उसके व्यवहार में होंती है। वैसे उसके व्यवहार में भी उतार–चढाव है। एक तरफ वह शुरू में मात्र वासनापूर्ण आग्रह से बसन्ती को अपने साथ रखकर शादी का स्वाँग रचता है और उसे छोडकर गाँव चला जाता है। दूसरी तरफ पूरे एक साल के बाद पत्नी के साथ शहर लौटने पर जब बसन्ती अपने बच्चे के साथ उसे मिल जाती है तो बच्चे के मोह में वह उसे फिर अपने साथ कर लेता है, बच्चे को प्यार भी करता है। बाद में जब उसकी गाँववाली पत्नी से बच्चा हो जाता है तो बसंती के बच्चे के प्रति उसका प्यार लुप्त हो जाता है।

उपन्यास में, संक्षेप मेंमध्यवर्ग के लोगों का भी अच्छा चित्रण हुआ है। उनमें एक श्यामा बीबी है, जो बसन्ती को बहुत प्यार करने लगती है, लेकिन अपनी प्रेमपुर्ण मानवीता के कारण पहीं बल्कि इसलिए कि एक साधु ने कहा था कि–" किसी मनुखकी सेवा कर तो दिल की धुकधुक मिट जायेगी। और बताया कि–"कल सबरे घर से बाहर पाव रखानेपर जो मनुख तेरे सामने आये, वही तेरी सेवा का पात्र होगा।[57]दूसरे दिन श्यामा बीबी को मिल गयी बसन्ती, फिर क्या था, उसने बसन्ती को अपने पास रख लिया। "बसन्ती को एक सहार मिल गया था, जबकि श्यामा पुण्य कमा रही थी।" श्यामा की तबयित सचमुच ठीक होने लगी तो उसने समजा कि गुरू महाराज की कृपा है, यहाँ तक कि एक दिन सास–ससूर बिस्तर बाँधकर छोटे बेटे के घर चले गये तो इसे भी उसने गुरु – कृपा ही समझा। लेकिन आगे चलकर जब बसन्ती भागकर दीनू के साथ रहने लगी और अपने बच्चों को हार्लिक्स पिलाने लगी और जूते – मोजे पहनाने लगी तो उसे शक होने लगा कि बसन्ती चोरी करती है। वह इस बात की चर्चा पडोसिनों से भी करती है। उस दौर में जब बसन्ती उससे मिलने आती है तो उसे भय होता है कि कोई देख लेगा तो बदनामी होगी। वह निराश्रित बसन्ती को अपने घर में सोने तक नही देती। उनके इन व्यवहारों में उसका मध्यमवर्गिय सामाजिक संस्कार इतना जोरदार होकर उभरता है कि उसकी धर्मभीरुता भी दब जाती है। और गुरु महाराज की हिदायत भी याद नही रहती। बसन्ती जब दीनू की धूर्त्तता की शिकार होकर संकट में फँस जाती है तो श्यामा को बसन्ती के कष्ट की चिन्ता से ज्यादा इस बात की खुशी होती है कि उसकी बात सच निकली, क्योंकि उसने पहले ही कहा था कि दीनू इग रहा है। श्यामा के चरित्र की तहों को धीरे धीरे टिकने से धीरे – धीरे लेखक ने एक – एक कर उभारा है। मध्यवर्ग का सामूहिक चरित्र भी उपन्यांस में तब दिखाई पडता है जब लोग बस्ती के उजाडे

जाने की क्रिया को सडक – किनारे खडा होकर देखते रहते है। उनकी सामूहिकता तमाशबीनों की अप्रतिबद्ध लोगों की सामूहिकता है। यह तोड – फोड ले दोनों अवसरें पर दिखता है। शुरु में और अंत में भी।

बसन्ती का व्यक्तित्व और चरित्र उपन्यास की कथा का मेरुदण्ड है, इसमें कोई शक नही लेकिन उसके व्यक्तित्व और चरित्र का विकास भी उसी सामाजिक यथार्थ पर न केवल आधारित बल्कि उससे घिरा हुआ है, जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। एक तरफ ग्रामीण संस्कारों के अवशेष तथा परिवार की गरीबी से उत्पन्न विवशता, दूसरी तरफ दिल्ली का शहरी वातावरण, उसकी स्वतंत्रता, रेडिओ, टेलिविजन, फिल्म आदि से सम्पर्क। इन सबका सम्मिलित योगदान है बसन्ती के व्यक्तित्व के निर्माण में। इसके साथ ही मनुष्य की जीजिविधा और सरकार की अमानवीय नीति के टकराव का गहरा असर भी बसन्ती के जीवन पर पडता है। बसन्ती की चंचलता, अल्लडपन, और मस्ती यादि एक तरपें उसकी उम्र का परिणाम है तो दूसरी तरफ फिल्मों की देन भी। बसनती ने वास्तव में दिल्ली के वातावरण में ही होश सम्हाला है, इसलिए परम्परागत ग्रामीण संस्कार उसमें बहुत कम है। स्वच्छंदता उसके व्यक्तित्व का अत्यन्त महत्वूपर्ण तत्व है। शायद माँ बाप की नियमित ताडना ने भी इसके विकास में कुछ योगदान किया है। बाप उसे नींद से जगाता भी इस तरह है – "हरामजादी अभी तक सो रही है। उठ जा....." और चौधरी ने उसे चुटिया से पकडकर खाट पर सीधा बैठा दिया।"[58] माँ भी इसी तरह उससे बात करती है। गाँव में रहती तो शायद वह इस ताडना के असर से दब्बू बन जाती लेकिन दिल्ली में यह ताडना उसकी स्वच्छंदता को और तीव्र बनाती है। जब श्यामा बीबी उसे कहती है – "भगवानजी से डरकर रहना चाहिए।" तो वह जवाब देती है–" किस – किससे डरकर रहूँ बीबीजी? बापू से? माँ से? आप से? भगवान से?"[59] जाहिर है उसने यह समझ लिया है कि एक निर्भिकता उसे माँ बाप, मालकिन और भगवान सबके दमन से मुक्त कर देती है। चौदवहे में चल रही बसनती साठ साल के लँगडे दर्जी बुलाकी के हाथ बाप के द्वारा बारह सौ रुपये में बेची गयी। वह उसके साथ जाने से बच गयी, इसलिए कि जिस दिन बुलाकी उसे ले जाता उसी दिन पुलिस पहुंच गयी थी बस्ती तोडने। यह तो संयोग है, वैसे एक बार पहले भी बुलाकी उसे ले जनेवाला था तो उसने जहर खा लिया था। यह सब होते हुए भी बसन्ती हमेशा फुलझडी की तरह हँसती रहती है।"श्यामा बसन्ती की ओर देख – देखकर हैरान हो रही थी कि इस लडकी के अन्दर भगवान ने हँसी के कैसे स्तोत डाल रखे है। बात--बात पर इसकी हँसी फुटने लगती है। भगवान मे शरीर तो इसे लडकी का दिया है, पर आतमा जैसे

पक्षी की, तभी वह सारा ववत फुटकती – चहकती फिरती है। : एक मिनट के लिए भी चैन से नही बैठ सकती।

बसन्ती के जीवन की समस्या है बुढढे बुलकी के चंगुल में जाने से बचना और उसीका दूसरा पक्ष है अपने अनुकूल जवान जीवन 5संगी चुनना। यों पहला पक्ष ज्यादा मजबूत है और चुनाव का बहुत मौका तो उसके सामने है भी नहीं। उसका मन समय अच्छी तरह व्यक्त होता है। जब वह श्यामा के घर से निकलकर जाते हुए गाती है––" मैं क्या करूँ हाय मुझे बुड्ढा मिल गया। [60] और एक दिन वह दीनू नाम के एक नौवजवान के साथ वेश बदलकर साईकिल के पिछे बैठकर भाग जाती है, जिससे परिचय एक शादी में हुआ था। ज्यादा सोच विचार किए बिना दीनू के साथ भाग निकली। "भागने के बाद क्या होगा। इसका उसे ध्यान नहीं आया था।[61] इस प्रसेग में उसका पूरा व्यवहार फिल्मी अभिनेत्री जैसा है, सिर्फ फैशन में नहीं बल्कि साहस में भी। "फिल्म की अभिनेत्री और बसन्ती में अन्तर यही था कि फिल्म कि अभिनेत्री का साहस झूठा होता है, उसका जोखिम झूठा होता है, जबकि अपने को अभिनेत्री मानकर व्यवहार करनेवाली बसन्ती का साहस सच्चा था और उसका जोखिम भी सच्चा था, जिसके पिछे अनेक खतरे मँढरा रहे थे। "[62] यदयापि बुड्ढे बुलाकी से अपने को मुक्त समझकर आगे बढने हुए उसे प्रसन्नता है. उसके मन में हिलोरे –सी उठती है। फिर भी रमेशनगर के मकान, पेड, श्यामा बीबी आदि के छूट जाने से उसे पीडा भी होती है। बसन्ती एक रूमानी विद्रोह की प्रक्रिया से गुजरती है। जिसका भविष्य को सुरक्षित करने के लिए उसने फिल्मी अंदाज में फूलों का अदान –प्रदान करके अपनी और फिर दीनू से कहा ––"अब हाथ पकडा है तो छोडना मत।" दीनू इस पुरी क्रिया को खिलवाड ही समझता है। उस क्षण भी वह अपने वासनात्मक आग्रह को छिपा नहीं पाता। बसन्ती विदगोह काके स्वतंत्र होकर जिस प्रकार दीनू के कमरें में दिन–रात बन्द रहतीहै, वह अलग किस्म की पराधीनता है, लेकीन उसे सन्तोस यही है कि उसका दीनू जवान है, हालाँकि दीनू एक दिन कह ही देता है–"[63]बसन्ती कोधक्का लगता है, लेकिन थोडी ही देर में फिर उसके मन ज्वार उठता है और अपने को समझाती है––" मेरे मन से तो यह मेरा पति है, पति मानकर ही उसके साथ आयी हूँ। यह नहीं मानता है तो न माने।" [64]यहाँ उसका विद्रोह रूढि का सहारा लेने को विवश है। फिर दिनू उसे बता देता है कि उसका ब्याह हो चुका है, तो बसन्ती को गहरा सदमा लगता है, उसकी आवाज डूबने लगती है, लेखिन बसन्ती की खुबी है कि हिम्मत नहीं खोती है और भैविष्य के प्रति निराश नहीं होंती।

हमेशा चहकते रहता, हर कठिनाई को हँसते –खेलते झेलना, चिंता और परेशानी के प्रसंग को" तो देना बसन्ती की अद्रभूत विशेषता है। यही विशेषता उसे कभी निराशा मे

डूबने नही देती। दीनू उसे छोडकर गाँव चल गया जाकर उसे प्रायः भूल ही गया, फिर भी बसन्ती उम्मीद लगाये बैठी है कि वह आयेगा, हालाँकि वह यहाँ बढरू के हाथ तीन सौ रूपये में इसे बेच गया है। बिकट स्थिति में पड गयी बसन्ती, दीनू छोडकर चला गया और यहाँ एक तरफबाप तैनात है बुढे बुलाकी के साथ उसे बाँधने के लिए तो दूसरी तरफ बढरूपकडने को कटिबध्द, फिर भी वह खिल-खिलाती रहती है। अंन्त में पकडी जाती है और बुलाकी के घर पहुँचा दी जाती है। लेकिन फिर जब सालभर के बाद अचानक दिनू दिखाई पड गया तो फिर उसके साथ हो लेती है एकदम सहज ढंग से। इस बार दीनू की पत्नी भी है। बसन्ती नये धरातल पर खडी है, लेकिन उसमें उतार - चढाव है, जिसे गुजरते हुए अभूतपुव मानसिक तणाव झेलती है वह झेलने से भागती नही। इस नये दौर में विवाहीता पत्नी का दर्जा भी रुक्मी को ही मिला. बसन्ती को नही. फिर भी वह यह समझकर धैर्य धरती है कि"दिनू का बेटा तो मेरे से ही है।"[65] क्योंकि रुक्मी को बच्चा नही था। एक दिन बसंती को दीनू का एक झापड भी लग गया, तो उसे यथार्थ को बोध हुआ कि बेटे के बल पर वह घर की मालकिन नही बन सकती। बसन्ती दूर तक नही देख सकती थी, उसे जीवन की व्यवस्था के अन्तर्विरोध और समय की निरन्तरता काज्ञान नही था, इसलिए उसके लिए हर एक दिन अलग - अलग ईकाई - सा था। लेकिन अनुभव के साथ वह मानव सम्बन्धों की निर्णायक वस्तु रूपसे की भूमिका को समझती है, तो सचमुच "अपने आप ही घर मालकिन की तरह व्यवहार करने लगी।"[66] ऐसा इसलिए हुआ कि पूरे परिवार में कमानेवाली वह अकेली थी। और बसन्ती को यह आत्मबोध हो जाता है, तो" दीनू और रुक्मी उसके साथ बदल तो नही गये थे, लेकिन उसके साथ वे बराबरी भी नही कर सकते थे।"[67] इसी दाक्र में दीनू कचहरी में जाकर बयान दे आया कि मेरी शादी बसन्ती से हो चुकी है।" बसन्ती की गृहस्थी की गाडी चलने लगी थी और लगने लगा था कि उसकी गति समतल कनी रहेगी।" लेकिन ऐसा नही हुआ। एक तो परिवार के बोझ और रहन - सहन में मध्यवर्गियों की नकल करने की प्रवृत्ति ने उसमें इधर - उधर से सामान गायब करने की कुप्रवृत्ति को जन्म दिया, जिसे शबा बीबी ने चोर कहा और उसका असर उसकी कमाई पर भी पडा। दूसरे इस बीच रुक्मी के बच्चा हो गया जिससे दीनू का झुकाव जिस कारण बसन्ती की ओर था, वह खतम हो गया। इस दौर में बसन्ती के अंतःसंघर्ष का अद्‌भुत चित्रण उपन्यास में हुआ है।"जब नन्हें मुन्ने का रुदन कोठरी में गुँजने लगा और रुक्मी हाथ पैर पटकने के बाद गहरी नींद सो गई तो बसन्ती के मन में एक ओर तो गहरे संतोष का सैलाब सा उठा और दूसरी ओर घोर निराशा के साये भी घुमडने लगे।[68] इसी साये में उसे बार बार लगता है कि रुक्मी का दूध सफेद न होकर काला है। सम्बन्ध में तणाव पैदा हो जाता है। बसन्ती की लापखाही छूमन्तर

हो गयी। उसकी बेचैनी बढ गयी। यों वह भीतर से चाहती रही कि गृहस्थी ठीक से चले। जब एक दिन एकदम सुबह रुक्मी के बच्चे को काला दस्त होने लगा और बसन्ती को लगा कि उसे कुछ हो गया है, सभी भयभीत हो किंकर्त्तव्यविमूढ थे। बल्कि रुक्मी तो बसन्ती को ही डायन कहकर उसी के करतब का फल बच्चे की बिमारी को मानने लगी, वह बच्चे को रुक्मी से छीनकर भागी – भागी डाक्टर के यहाँ चली जाती है, दवा लाकर देती है फिर बच्चा ठीक हो जाता है। रुक्मी समझती है कि बसन्ती उसके बेटे को मौत के मुँह से छीन लायी। लेकिन अचानक एक दिन दीनू दिल्ली छोडकर रुक्मी और उसके बच्चे के साथ गाँव चला जाता है। दीनू ने बसंती के बेटे पर जाते वक्त ध्यान भी नही दिया। स्पष्ट संकेत है कि दीनू लौटनेवाला नही है। यह ऐसा तूफान था, जिसने बसन्ती की जिन्दगी को उजाड दिया, हालाँकि जिन्दगी चलाने के लिए वह फिर तनहा चलाने के लिए वह फिर तनहा चलने का निर्णय करती है; लेकिन दीनू तूफान के बाद फिर आ गया सरकारी तूफान। फिर वही तोड–फोड, फिर एक बार सबका सब उजड गया। उसके बाप का भी थैला उठाकर पुलिसवाले ले गये, बाप पुलीस ले गये, बाप पुलिस के पीछे दौडा, उसकी माँ असके पीछे भागी। बसन्ती भी उनकी ओर ही चली गयी, उनको देखने। दोनों तरफ की दुनिया उजड गयी थी, गहरे दुःख के क्षण में बसनती माँ बाप की ओर जा रही है। आगे का रास्ता उसका अंधःकारमय था इसलिए "पिछील सडक की ओर मुड गयी।"[69] यह वाक्य बसन्ती के प्रसंग मे अत्यंत सांकेतिक एवं अर्थगार्भित है। यह दूर तक सोचे बिना मत की तरंग में स्वच्छंदतापूर्वक विद्रोह कर देने और जीवन मे लापरवाही बरतने का अनिवार्य परिणाम है। बसन्ती का जीवन – संघर्ष इस निष्कर्ष को पुष्ट करता है। लेकिन इतना अवश्य है कि वह निराश और पस्त होकर सर नही धुनती या बैठ नही जाती। बसन्ती का चरित्र हिन्दी कथा – साहित्य में सर्वथा नया है, क्योंकि वह नये यथार्थ की उपज है। भीष्म साहनी की खुबी है कि उन्होनें ही नये यथार्थ की इस उपज को पहचाना और अपनी गंभीर कला से रंगकर उसे प्रस्तुत किया। बसन्ती का चरित्र हिन्दी कथा साहित्य को उनकी महत्वपूर्ण देन है।

आलोच्य उपन्यास का कथानक इस तरह कसा हुआ है कि उसे बहुत हिलाडुलाकर भी कही सें कोई फालतू अंश नही निकाला जा सकता। इसके विपरित अनेक जगह अधिक विसतार की अपेक्षा थी, जैसे की बस्तीवाले शुरु में ही बस्ती की रक्षा के लिए अफसरों के पास जाते है, इस प्रसंग को कोई बहुत फैलाकर लिख सकता था। यदयापि भीष्मजीने बहुत संक्षेप में इसे निष्टा दिया है, फिर भी ऐसा नही लगता किं कुछ छूट रहा है, क्योंकि तुरंत ही तो तोड – फोडवाला दस्ता आ जाता है, जो अफसर शादी और सरकार दोनों की क्रूरता

का साक्षात अनुभव करा देता है। मकानों को तोडे जाने, बस्तीवालों में भगदड मच जाने, सामान के तितरबितर हो जाने आदि का वर्णन अपेक्षित विस्तार के साथ चित्रात्मक शैली में इस कदर किया गया हव कि सरकारी बर्बरता और बस्तीवालों की व्यथा पाठकों की संवेदना इस तरह जाग्रत करती है कि मन का तनाव बढ जाता है, जिसके एक छोर पर सरकार के प्रति गुस्सा और दूसरे छोर पर बस्तीवालों के प्रति सहानुभूति है। इसी तरह उस प्रसंग का वणन रुढियों की अमानुषिकता का प्रत्यक्ष बोध करा देता है, जब दीनू रुक्मी को ज्वाला देवी के मन्दिर में ले गया है। वह पूरा प्रसंग उपन्यास की कथा को एक दूसरके थारातल पर ले जाता है, जिसकी प्रासंगिकता यह है कि वह रुक्मी के साथ दीनू के लगाव को व्यक्त करता है और पाठकों को विश्वसनीस ढंग से समझने का आधार मिलता है कि दीनू के मन में बसन्ती के प्रति वैसा कुछ आकर्षण नही है, जैसा पति के मन में पन्ती के लिए होता है। पुजारी रुक्मी को धुएँ में डाल देता है, रुक्मी व्याकुल हो उठती है।"देखते ही देखते इसके बाल खुल गये और झुलते सिर के साथ उसके बाल भी झूलने लगे. उसकी अधमुँढी आँखो में लाली के डोरे उतर आये।[70] यह क्रूर प्रक्रिया देखकर दिल दहल जाता है लेकिन पुजारी क्रहता है – "देवी क्रुद्ध है। देवी के तेवर देखो। देवी क्रोध के झूले पर झूल रही है।[71] यह पूरा कितना निरर्थक था, यह तब साबित होता है जब दिल्ली में रुक्मी का इलाज डाक्टर करता है और उससे लाभ होता है। बसन्ती और दीनू के प्रेम प्रसंग का वर्णन भर कोई विस्तार से कर सकता था लेकिन भीष्मजीने संक्षेप से काम चलाया है। बसन्ती के अवहडपन की वजह से संक्षिप्तता अखरती नही।

उपन्यास के शिल्प की बडी खुबी तब और समझ में आयेगी जब पाठक यह बात ध्यान में लायेंगे कि भीष्म साहनी मार्क्सवाद से प्रतिबध्द प्रगंतिशील कथाकार हैं। इन बात का सम्बन्ध उपन्यास के शिल्प से यह है कि कथं --प्रवाह में कहीं भी कथकार का सैध्दन्तिक आग्रह दिखायी नहीं पडता। ऐसा नहीं कि सैध्दान्तिक बातें कथा में नहीं आयी है, लेकिन इस तरह जीवन प्रसंगो में घुलकर कि पाठकों को बात कहीं भी अखरती नहीं। उदाहरण के लिए मकानों को तोडे जाने के प्रसंग में बस्ती के लोग ही हाकिम से कहते है--" मालिक हम राजमिस्त्री, हम ही घर बनावें और हमारें ही रहने को ठौर नहीं। " तो बात बडी स्वाभाविक लगती है। इसीतरह अर्थ की प्रभुत्वपूर्ण भूमिका को भी अनेक जगह है। बुलाकी का बसन्ती को खरिदना, बस्ती के ही मजदूरोंद्वारा बीस रूपये रोज पर बस्ती के मकानों को तोडने में लग जाना, कमाई के आधार पर गृहस्थी में प्रमुख स्थान ग्रहण करने की बसन्ती की कोशिश, आदि प्रसंग उदाहरण है। अफसरशाही पर टिप्पणी भी लेखक नही करता है

बस्तीवाले ही करते है और अपने लहजे में करते है। जो लोग अधीरता में अपनी ओर से सिद्धान्त झाडने लगते है, उन्हे इस उपन्यास पर गौर करना चाहिए। "बसन्ती" हिन्दी कथा – शिल्प की परिपक्वता का एक और प्रमाण है। चित्रण में लेखकने द्वंद्वात्मक शैली का उपयोग किया है। कथा में बस्ती को बसाने और उजाडने का द्वंद्व है, तो चरित्रों मे बसन्ती और श्यामा का द्वंद्व, बसन्ती और रुक्मी का द्वंद्व फिर दीनू और लँगडे दर्जी बुलाकी का द्वंद्व। यह द्वंद्वात्मक शैली कथा को प्रभावकारी और कथ्य कसे विश्वसनीय बनाती है। प्रेमचन्द ने भी इस द्वंद्वात्मक शैली का उपयोग खुब किया है। वास्तव में सयाज और जीवन के अन्तर्विरोधों का चित्रण करनेवाले कथाकार के लिए यह शैली स्वाभाविक एवं आवश्यक है। भीष्मजी तणावपुर्ण एवं अन्तर्विरोधग्रस्त प्रसंगों को और विस्तार देते, अन्तर्विरोधों एवं टकरावों से उत्पन्न बेचैनी का कुछ और वर्णन करते, तो शायद यह उपन्यास और प्रभावशाली होता। पाठक की चेतना को कथा – प्रवाह बाँध जरुर लेता है, लेकिन कही पर उसे बहुत बेचैन नही करता।

"बसन्ती" की भाषा हिन्दी का उँचा, गंभीर और प्रमाणीकृत रुप प्रस्तुत करती है, क्योंकि वह न तो राजस्थानी हिन्दी है, न देहाती और न पंजाबी हिन्दी है। विभिन्न राज्यों के लोगों के बीच जैसी हिन्दी को सम्पर्क भाषा बनना चाहिए, वैसी "बसन्ती" मे है। उपन्यास की भाषा कथ के धीरे प्रवाह के एकदम साथ चलती है। भाषा कही चित्रात्मक है, तो कही व्यंग्यात्मक, तो कही विनोदपूर्ण और कही सांकेतिक।

इसके उदाहरण देखिए –

"सियार और साँप और उल्लू और अन्य जीव–जन्तू तो केवल इस ताक में रहते है कि कब कोई बस्ती खदेड दी जाय और वे वहाँ पर जाकर अपना आधिपत्य जमा लें[72]

"उसे लगा जौये उसके शरीर के अंदर कुछ टूट रहा है, पर साथ –कुछ अनूठा –सा बन भी रहा है, वैसे ही जैसे पत्ते झर भी रहे हैं और हरी –हरी कोंपले निकल भी रही हैं [73]

"वास्तव में अपने को ऊंची जात का समझनेवाले, तथा दो बीबियों और एक साइकिल के मालिक के लिए घरों में चौंका –बर्तन का काम करन में उसकी हेठी थी।[74]

"आँखे पहले जैसी ही बडी–बडी थीं पर जैसे उनकी नजर अन्दर की ओर मुड गयी थी[75]

"आज पहली बार उसे लगा, जैसी श्यामा बीबी को इस बात के अधिक सन्तोष मिल रहा है कि दीनू अच्छा आदमी नही निकला और उसका कहा सच निकला।[76]

ऐसे वाक्य उपन्यास में ढेर बिखेर पडे है, जो बडी सहजता एवं स्वाभाविकता से पाठकों की चेतना में प्रवेश कर जाते है।

भीष्म साहनी ने "तमस" के माध्यम से मानवीय अस्तित्व और संघर्ष के जीवन्त स्वरुप को ठोस भौतिक आधार पर खोजने-परखने की चेष्टा की है और देश की भौगोलिक, राजनैतिक, विभाजन त्रासदी के फल स्वरुप विघटीत मानमुल्यों और समाज की विशृंखल विसंगतियों का चित्रण "बसन्ती" मे किया है। "बसनती" उपन्यास स्वतंत्र भारत की उस परिवर्तित वर्गचेतना का आकलन करता है तो पूँजीवादी प्रतिष्ठानों और भौतिक समृद्धि के समानान्तर एक सर्वहारा वर्ग के उदय के साथ ही नवीन सामाजिक संरचना को जन्म देने लगता है। यह संरचना बहुत बारीक बुनावट की होती है जो युगधर्म और काल के विविध आयोमों के उतार - चढाव में जुडकर स्वरुप ग्रहण करती है।"[77].

भाष्म साहनी ने मुख्य रुप से निम्न - मध्यवर्ग की आशा - आकांक्षाओ और अंतर्विरोधी को बडे पैने और व्यंगातमक रुप में उकेरा है, किन्तु कोई भी व्यक्ति परिस्थितियों का शिकार होकर जब अपनी जमीन, पैतृक व्यवसाय से पीढियों का नाता तोडता है तो नये व्यवसाय जुडने के साथ साथ उसकी आस्थाएँ विश्वास मूल्य और प्रतिबद्धताएँ - सभी अपना मूह स्वरुप बदल देती है। ऐसी स्थिति में मूल्यहीनता की बदरंग छवि ही ज्यादा उभरती है। भारत विभाजन की त्रासदी और विश्व के निकटतर होते जानेवाली भौतिक समृद्धि ने भारतीय संस्कृति की समूची अध्यात्किता, त्याग, सेवा की परम्परा को छिन्न - भिन्न करके उसे "आत्मकेन्द्रित और अर्थकेन्द्रित" बना दिया है जहाँ कर्तव्य के नामपर रह गया है स्वार्थ और रिश्तों के नाम पर सौदेबाजी जातिय गौरव और कुल - परम्परा या राष्ट्रीय अभिमान अब केवल झूठे आदर्श बनकर रह गये है। बदलते युगधर्म की यह प्रवृत्ति किस प्रकार दोहरी मानसिकता को जनम देती है। आजीविका की विभिषिका जब अपनी धरती से उखाडकर शरणार्थी बनने को विवश कर देती है तब जमीन - आसमान के बीच रैन - बसेरा करनेवाला श्रमिक वर्ग महानगरीय अटटालिकाओं के पहलु में बसकर अपनी कच्ची झोपडीयों में भी सदैव असुरक्षित रहता है।

"बसन्ती" उपन्यास का परिवेश इसी निम्न श्रमिक वर्ग का परिवेश है ज्यो झुग्गियों में रहता है और देश के विविध कोनों से जीविका - निर्वाह हेतु महानगर दिल्ली की सीमा पर एकत्र हुए है। दिल्ली यहाँ केन्द्रिय आधार है जहाँ से समूचे देश के गव्यात्मक विकास के

लिए निर्णय लिए आते है और दिल्ली ही वह स्थान है जो पूरे देश के चरित्र का प्रतिक है। पूरे देश के चरित्र का प्रतिक है। पूरे देश की आशा–आकांक्षा, सपने और जीजिविषा की आश्वासन भरी राहत जहां पल सकती है, गाँव, कस्बे, शहर, और महानगर, की पूरी सभ्यता, संस्कृति जहां एक साथ धडकती है।

"बसन्ती" उपन्यास में साहनी ने पूँजीवादी व्यवस्था की दोहरी शिकार निम्न वर्ग की झुग्गी में रहनेवाली शोषित और उपेक्षित नारी बसन्ती के व्यक्तित्व को उभारा है, जो संघर्ष करते करते इतनी बोल्ड हो गयी है कि वह एक ओर व्यवस्था के ढाँचे को तोडने के लिए संघर्ष करती है; वही दुसरी ओर थोथी सामाजिक मान्यताओं को नकार कर स्वतंत्र जीवन जीती है। साहनी ने समाज के उस उपेक्षित अंग को अपने लेखन में महत्व दिया है जो अपनी टूटी – फूटी शक्ल में उपेक्षा और अभावों का जीवन व्यतीत करता है और साथ ही निरन्तर संघर्ष भी। उपन्यास की झोपडपट्टी में रहनेवाली बसन्ती एक ऐसी ही नारी है – जिसे अपने हाथ की कमाई पर नाज है और जो खुद किसी पर आश्रित नही बल्कि स्वयं दूसरों को पालनेवाली औरत है, सारी सामन्ती और पूँजीवादी मूल्यों तथा संस्कारों पर बेरहमी और साहस के साथ प्रहार करती है, मर्द और औरत के रिश्तों और परिवार तथा सामुदायिक जीवन की शोषण और दमनकारी शक्तियों को चुनौती देती है वह हिन्दूस्तान में एक सर्वथा नयी औरत की उभरती हुई शक्ल है। उपन्यास में साहनी ने बसन्ती को एक संघर्षशील "टाइफ" चरित्र प्रदान किया है। उपन्यास की नायिका बसन्ती उपेक्षाओं अभावों त्रासदियों संघर्षो का जीवन भोगकर भी मानवीय चरित्र को लिए हुई है। उपन्यास का कथ्य जीवन के गहरे यथार्थ से जुडा हुआ है। बसनती निश्चय ही साहनी की एक सफल और प्रौढ औपन्यासिक कृति है।

"बसन्ती" उपन्यास में सामाजिक यथार्थ का बडी गहराई से निरुपण हुआ है। उपन्यास का कथ्य निम्नवर्ग के झोपडपट्टीवासी लोगों का जीवन है जो महानगर मे (दिल्ली) अपनी आजीविका हेतु निरन्तर टूटन, उजाड, संघर्ष और तनावों जीते हुए अपनी एक विशिष्ट पहचान को कायम करते है। साहनी ने बसन्ती के चरित्र की सृष्टि कर एक नयी नारी के व्यक्तित्व को रेखांकित किया है। जिसमें शुरु से ही विद्रोह के बीज है। वह घर, बस्ती और महानगरी में स्वच्छंद जीवन व्यतीत करती है। बसन्ती भी आजाद भारत में स्वतंत्र जीवन जीने जीजिविषा को लिए हुए है।

उपन्यांस में बसन्ती, दीनू, बुलाकी, आदि लोगों की झोपडीनुमा बस्ती का बार – बार टूटना और स्थापित होना इस बात का स्पष्ट संकेत है कि आजादी साधारण लोगों को नही मिली, अपितु उसका सर्वाधिक लाभ पूँजीपतियों, नेताओं और अधिकारियों को ही मिला है। उपन्यास में लेखकने पुलिस की कारगुजारी को भी स्पष्ट किया है। बसन्ती, दीनू, बुलाकी,

तथा बस्ती के अन्य लोग बार – बार अपनी बस्ती के टूट जाने पर भी साहस का परिचय देते हका वे बार बार अपनी बस्ती के टूट जाने पर भी साहस का परिचय देते है। वे बार – बार अपनी बस्ती (झोपडीयाँ) बसाते है और साथ ही व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष भी करते है। बसन्ती की बस्ती (झोपडी) का निरन्तर टूटन और बसने की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। आजादी के बाद यह सही है कि राष्ट्रीय सामाजिक यथार्थ के अनेक अन्तर्विरोध उभरे है। साहनी ने उनको बखूबी बसन्ती उपन्यास में उद्घाटित किया है। भीष्म साहनी के बसन्ती उपन्यास में एक ऐसी लडकी का चित्रण किया है जो महानगरों में आये ग्रामीण लोगों के साथ दिल्ली की झुग्गियों में अपना जीवन व्यतीत करती है। यह भी कहा जा सकता है कि उसका चेतनागत विकास शहर में ही हुआ है।

बसन्ती का विद्रोही व्यक्तित्व है। उसके इस विद्रोही व्यक्तित्व में परस्पर अंतर्विरोध भी सम्मिलित है। स्वच्छंदता अल्हडपन, हास्य, व्यंग, गरीबी, उपेक्षा अस्थिरता, विद्रोह, व्यवस्था विरोधावस्था सामाजिक मूल्यों का विरोध उपर्युक्त यह सभी चीजें बसन्ती के सशक्त चरित्र की रचना करती है। बसन्ती चेतना सम्पन्न और साहसी नारी है। वह व्यवस्था और समाज दोनों ही स्तर पर संघर्ष करती हुई एक नयी नारी के रुप में उभरकर आती है। बसन्ती के माध्यम से लेखक ने सामाजिक आर्थिक वैषम्य को भी उजागर किया है। निम्नवर्ग के इस विस्थापित (खानाबदोष) वर्ग की जिन्दगी के उजड जाने का दर्द जहाँ पाठक को द्रवीभूत करता है वही व्यवस्था की अमानुषिकता भी स्पष्ट हो जाती है।

उपन्यास का मुख्य स्वर अस्तित्व संघर्ष रहा है। बसन्ती इस क्षेत्र में न केवल व्यक्तिगत रुप से सफल होती है बल्कि बस्ती के लोगों में वर्गिय चेतना भी उभरती है। उपन्यास में बसन्ती के जीवन की एक समस्या स्वतंत्र और समान रुप से अपने जीवन–साथी के चयन की है। वह परिस्थितियों वश जहाँ साठसाला बुड्ढे बुलाकी के चंगुल से मुक्त होती है, वहीं दीनू के साथ भाग भी जाती है। बसन्ती का दीनू के साथ भागना उसका यह पलायन, नही है बलिक इसमें सडी, गली, थोथी और निरर्थक सामन्ती सामाजिक मूल्य – मर्यादाओं के प्रति विद्रोह का भाव है। शहरी जीवन के रोमंटिसिजम का चित्रण साहनी के कथा को रोचक बनाने के लिए किया है। बसन्ती का जीवन फिल्म क्षेत्र से भी प्रभावित लगता है। दीनू और उसके जीवन कथा–सूत्र कही कही भारतीय फिल्मी अभिनेत्री के समान दिखायी पडते है।

बसन्ती उपन्यास में भीष्म साहनी ने बसन्ती की बस्ती के लोगों का जन–जीवन, हलचल, चेतना, संघर्ष और विद्रोह को रुपायित करने के लिए समाजवादी यथार्थवादी धरातल पर उन सभी सूक्ष्म और विस्तृत चित्रों को छायायित किया है जिससे उपन्यास का शिल्प भी नवीन और रोचक बन पडा है। लेखक ने मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण भी विशद रुप से

किया है। ऐसे पात्रें में श्यामा और बसन्ती का व्यक्तित्व अपनी समस्त मानवीय सफलताओं और असफलताओं को लिये है। वर्तमान पूँजीवादी समाज व्यवस्था में रहनेवाले लोगों के सामाजिक अन्तः सम्बधों को भीष्म साहनी ने बडी गहराई से निरुपित किया है। उपन्यास की भाषा आम व्यक्तियों की भाषा है, उसका सफल प्रयोग है।

भीष्म साहनी का "बसन्ती" निश्चय ही नवीन कथ्य और शिल्प को मुखरित करना हुआ हिन्दी उपन्यास में अपना एक स्थान बनाने में सफल हुआ है।[78]

निष्कर्ष :-

भीष्म साहनी का उपन्यास "बसंती" जिजीविषा और व्यवस्था का टकराव तथा वर्गसंघर्ष की समानांतर चेतना उभर उठी है। देश के विभिन्न प्रांतो से उदरपूर्ति के लिए दिल्ली में ये लोग आकर बसे। "बसंती" में लेखकने अनधिकृत झुग्गी – झोपडीयों में बसे इन श्रमियों की आंतरिक जिंदगी को उखेरा है। यहाँ अफसरशाही और पुलिसों की मानमानी पर लेखकने व्यंग किया है।

यहाँ लेखकने विकसित समाजिक यथार्थता को बडी खुबी के साथ चित्रित किया है। "बसंती" में जीवन जीने के अधिकार की दृष्टि को नजरान्दाज करते हुए आजादी पर प्रहार किया है। उपन्यास के आरंभ मे देश की राजधानी दिल्ली में बसी अवैध बस्ती का चित्रण आया है। इस बस्तीवालों के बीच बस्ती के अस्तित्व की रक्षा के लिए चिंता करना, बस्ती पर पुलिस दल का हमला होना मकानों को तोडना, चंद घंटो में सब उजाड बनाना पूरी बस्ती की आबादि लो उठाकर पाँच मील दूर पहूँचा देना, वहाँ पर भी बसी बस्ती को उपन्यास के अंत में तोडना आदि घटनाओं से लेखकने यह स्पष्ट कर दिया है कि आज की शासन व्यवस्था मैने ही इन लोगों की जिंदगी को अस्थिर बनाया। लेखकने भारतीय संविधान में भारत का कोई भी नागरिक देश के किसी भी हिस्सें में बस सकता है, रोजगार चुन सकता है इसकी पोल खोलने का प्रयत्न किया है और संविधानके इस प्रावधान को निरर्थक ठहराया है। लेखक को अस्थायी जिंदगी जीनेवालो इन लोगों के प्रति यहाँ सहानभूति लगति है। लेखक ने इन लोगों के दर्द को खोलकर रखा है। इस दर्द में सरकार के दाशित्वहीन रवैय्ये पर प्रकाश डाला है। इस उपन्यास की नायिका बसंती के माध्यम से यह पूरा परिवेश अपनी कथा – व्यथा प्रसतुत करता है। इस उपन्यास के तहत अफसरशाही और पुलिस की क्रूरता पर भी प्रकाश डाला है। यहाँ बेटी बेचनेवाले बाप है, वृद्धावस्था में भी युवती को खरीदकर शादी कर नेवाले बुढे दर्जी बुलाकी जैसे लोग है, यहाँ हीरा जैसे दलाल है, यहाँ हीरा जैंसे दलाल है, यहाँ की पंचायत की निरर्थकता पर प्रकाश डालनेवाले बोधरात है।पंचायत समुह जीवन की सामर्थकता विशद करनेवाले मोतिराम जैसे लोग है। पुरूषोचित अहंकार से भरे दीनू जैसे

नौजवान है। बसंती का व्यक्तित्व-विकास सामाजिक यथार्थ पर घिरा हुआ है। ग्रामीण और नागरी संस्कृति का संमिश्रण यहाँ हुआ है। बसंती की चंचलता अल्हडपन, और लापरवाही बिल्कूल फिल्मी लगते है। इस उपन्यास का कथानक चित्रात्मक शैली का सुंदर नमुना पेश करता हुआ बस्तीवालों के पक्ष में लेखक की सहानभुती देखने को मिलती है। यहाँ द्वंद्वात्मक शैली के दर्शन होते है। बस्ती को बसाने और उजाडनेवालों में द्वंद्व है, रमेशनगर के निवासी और बस्ती के निवासियों में द्वंद्व है। बसंती और श्यामा में द्वंद्व है। बसंती और रुक्मी में द्वंद्व है। दीनू और बूलाकी मे द्वंद्व है। द्वंद्वात्मक शैली का यह उपन्यास बेजाडे नमुना है।

इस उपन्यास की भाषा हिन्दी का ऊँचा, गंभीर और प्रमाणित रुप प्रस्तुत करती है। इस उपन्यास की भाषा न राजस्थानी हिन्दी है न देहाती हिन्दी है, न पंजाबी हिन्दी है। विभिन्न राज्यों के लोगों के बीच की संपर्क भाषा के रुप में हिन्दी का प्रयोग यहाँ हुआ है। भाषा में चित्रात्मकता, व्यंगात्मकता और सांकेतिकता है।

**निष्कर्ष :-**

प्रस्तुत लघु - शोध - प्रबंध के चतुर्थ अध्याय में हमने झोपडपट्टी और फुटपाथ के जनजीवन पर आधारित "कबूतरखाना" - 1960 "किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई - 1960 "बोरिवली से बोरिबंदर तक" - 1969 "मुरदाघर" - 1974 आदि बम्बई महानगरी में बसी विविध जगहों की झोपडपट्टीयों का और "बसंती" - 1980 में दिल्ली में स्थित रमेशनगर की सडक के किनारे बसी झुग्गी - बस्ती के बीच में स्थित जनजीवन का आशयात्मक विवेचन किया है।

बम्बई की झुग्गी - झोपडपट्टीयोंपर लिखे गये उपन्यास "कबूतरखाना" किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई "बोरिवली से बोरीबंदर" तक और "मुरदाघर" आदि में वेश्या व्यवसाय की समस्या की मजबूरी पर अधिक सोचा है। इन उपन्यासों में वेश्याओं पर होनेवाले अत्याचार पुलिसों द्वारा उनकी होनेवाली मारपीट उनका दारिद्रय इस व्यवसाय की तरफ उन्हे प्रेरित करनेवाले उनके पति उनके दाम्पत्य जीवन में स्थित तणाव, उनके बच्चो की भूखमारी, अवैध बच्चे की प्राप्ति पर उनके जीवन में निर्मित दरारे आपत्ती के समय उनमें जगनेवाली मानवता, उनके आत्मकेंद्रीत रिश्तें आदि पर प्रकाश डालकर इन लेखकोंने बमबई में स्थित झोपडपट्टी के वेश्या - विश्व को साहस के साथ चित्रित किया है। इन उपन्यासों की कोई एक धाराप्रवाहीक कथा नही है। अनेक घटनाओं की सहायता से उपन्यासों की कथा का निर्माण करके एक अत्यंत अच्छा प्रयोगवादी दृष्टिकोण मटियानी और दीक्षितजीने अपनाया है।

इन उपन्यासों के पात्र परिस्थिति के दास बनकर पूरे परिवेश का प्रतिनिधित्व करते हुए देखने को मिलते है। "कबूतरखाना" का गणपत रामा "बोरिवली से बोराबन्दर तक" का

युसूफ दादा "मुरदाघर" का पोपट और जब्बार इसके अच्छे उदाहरण हो सकते है। अर्थाभाव और मजबुरी के कारण वेश्याव्यवसाय की तरफ मुंडी गंगूबाई, सईदन, कुलसुम, रामी, नूर, चंदा, पिचन्ना, नागम्मा, शारदाकाकी, मैना, रोजी, सुभद्रा, चंदरी, नयना हसीना, पारबनी, तारा, नूरन, मरियम, आदि औरते इसके अच्छे उदाहरण हो सकते है। अतीष दारिद्रय के कारण उच्छिष्ट पर झडी लगाकर पेट की आग को बुझानेवाले अमजद राजू और आवारा छोकरे है। इन उपन्यासों में बम्बई के झोपडपट्टी मे स्थित एक लोफरों की दुनिया निवास करती है जो परिस्थितियों का ही योगदान लगती है। ये उपन्यास कराटी मिश्रित हिन्दी के अच्छे उदाहरण लगते है। इस संमिश्र भाषा के कारण ये उपन्यास अत्यन्त सफल बन बैठे है।

वातावरण के रुप में इन उपन्यासकारों ने रेल लाईन की ढलान पर बसी झुग्गियाँ बोरिवली से बोरीबंदर तक की झुग्गियाँ कोलीबाडा, भीमडी रोड, शिवडी, जोगेश्वरी, कमाठीपूरा, फारसरोड, मुँगरापाडा आदि झोपडपट्टियों की मंदगी और वहाँ का घिनौनापन चित्रित किया है। ये उपन्यासकार वातावरण के चित्रण में बेहद सफल लगते है। कचरें के ऐर पर कुछ तलाशता हुआ पागल व्यक्ति इन लोगों के भविष्यत की तलाश का अच्छा प्रतिनिधित्व करता है। "कबूतरखाना" की प्रतिकात्मता भी इसी ढंग की है। पतिकारत्मकता "और "मुरदाघर" बेजोडे उपन्यास लगते है।

इन उपन्यासकारों ने आत्मकथनात्मक शैली, पतिकारक शैली वर्णनात्मक शैली, पत्र शैली के अच्छें उदाहरण प्रस्तुत किये है।

इन उपन्यासकारों ने किसी विशेष मतवाद के प्रचार के अथवा प्रसारके हेतु ये उपन्यास नहीं लिखे गये है। इन्होंने इन लोगं की उपेक्षित जिदगी पाठकों के सामने लकर उनकी स्थितियों में सुधार लाने की आवश्यकताओं पर बल दिया है। शैलेश मटियानी वे यह घिनौना जीवन स्वयं देखा और भोगा है। बोरविली से बोरिबंदर तक का वीरेन वे स्वेयं है शैलेश मटियानी और जगदम्बाप्रसाद दाक्षितने महानगरीय उपेक्षित झोपडपट्टी अंचल का पक्षधर बनकर इनकी स्थितियों में सुधार अनिवार्य है, इसपर बल दिया है।

भीष्म साहनी के "बसंती" में दिल्ली में रमेशनगर के पासवाली सडक के किनारे बसी झुग्गी – बस्ती के जनजीवन का चित्रण किया है। बम्बई की झुग्गी – झोपडियों के जनजीवन से यह वर्णन थोडासा विकसित लगती है। यहाँ के लोगो में समूह भावना के दर्शन होते है। इस बस्ती के लोग स्वयं अपनी बस्ती में महानगरीय सुविधाएँ लाने के लिए प्रयत्न करते है। इतना ही नही आपसी मतभेद, संघर्ष मिटाने के लिए इन्होने पंचायत का भी निर्माण किया है। इस बस्ती के लोग अपनी अस्थिर जिंदगी के खिलाफ आवाज उठाकर झोपडे तोडने आयी पुलिसों से संघर्ष करने के लिए भी तैयार होते है। दिल्ली की इस झुग्गी बस्ती में

पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, और दक्षिण के कई प्रांतो से मजदूर लेग आकर बसे है। ये अपने जातीगत या पारंपारिक छोटे – छोटे व्यवसाय करके उदरपूर्ति करते है। यहाँ नाई का व्यवसाय करनेवाला चौधरी है। दर्जी का व्यवसाय करनेवाला बुलाकी है। इन लोगों मे जातीय व्यवसायों के बंधन को तोडने का भी प्रयत्न किया है। इसका सबूत नाई का व्यवसाय करनेवाले एक राजपूत युवक में देखने को मिलता है ।

इस उपन्यास में छोटे – छोटे व्यवसायिकों की अस्थिरता, उनपर होनेवाले पुलिसी अत्याचार, उनकी अभावग्रस्तता, उनके बीच के अवैध यौन सम्बन्ध और उनमें संपन्न होनेवाले अनमोल विवाी आदि पर भी भीष्म साहनीने सोचा है।

आलोच्य उपन्यासों के आशय से झुग्गी – झोपडपट्टियों के सभी पहलुओं के दर्शन पाठको को होते है।

ooooo

संदर्भ सूची :-


1. शैलेश मटियानी - "कबूतरखाना", आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र.सं. 1960, पृ. 107
2. प्रेमकुमारी सिंह - "शैलेश मटियानी के आंचलिक उपन्यास", भावना प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1992, पृ. 20
3. वही, पृ. 20
4. शैलेश मटियानी - "कबूतरखाना", आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र.सं.1960, पृ. 47
5. डॉ. अमर जायसवाल - "हिन्दी के बहुचर्चित उपन्यास और उपन्यासकार", विद्याविहार प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं. 1984, पृ. 92
6. शैलेश मटियानी - "कबूतरखाना", आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र.सं. 1960, पृ. 8
7. वही, पृ. 27-28
8. डॉ. अमर जायसवाल - "हिन्दी के बहुचर्चित उपन्यास और उपन्यासकार", विद्याविहार प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं. 1984, पृ. 94
9. शैलेश मटियानी - "कबूतरखाना", आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र.सं.1960, पृ. 50
10. शैलेश मटियानी - "कबूतरखाना", (प्रस्तावना), आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र.सं.1960, पृ. 5
11. सं. डॉ. खेलचंद आनन्द - "हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासकार", सूर्य-प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1978, पृ. 259
12. प्रेमकुमारी सिंह - "शैलेश मटियानी के आंचलिक उपन्यास", भावना प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1992, पृ. 21
13. डॉ. अमर जायसवाल - "हिन्दी के बहुचर्चित उपन्यास और उपन्यासकार", विद्याविहार प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं. 1984, पृ. 92
14. प्रेमकुमारी सिंह - "शैलेश मटियानी के आंचलिक उपन्यास", भावना प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1992, पृ. 41
15. वही, पृ. 19
16. वही, पृ. 19
17. शैलेश मटियानी - "बोरीवली से बोरीबंदर तक" (प्रस्तावना), आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र.सं. 1969, पृ. 2-3
18. शैलेश मटियानी - "बोरीवली से बोरीबंदर तक", आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र.सं. 1969, पृ. 21-29

19. डॉ. सुधा कालदाते - "आधुनिक भारताच्या सामाजिक समस्या", शारदा प्रकाशन, नांदेड, प्र.सं. 1974, पृ. 164-165

20. जगदम्बाप्रसाद दीक्षित - "मुरदाघर", राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, तृ.सं. 1981, पृ. 7

21. वही, पृ. 8

22. डॉ. चमनलाल - "प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास" भाग-2, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ, प्र.सं. 1988, पृ. 136

23. जगदम्बाप्रसाद दीक्षित - "मुरदाघर", राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, तृ.सं.1981, पृ. 9

24. वही, पृ. 65

25. वही, पृ. 107

26. वही, पृ. 132

27. वही, पृ. 203

28. वही, पृ. 204

29. डॉ. चमनलाल - "प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास भाग - 2", हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ, प्र.सं. 1988 पृ. 153

30. रामदरश मिश्र - "हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा", राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1982, पृ. 171

31. डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर - "उपन्यास : स्थिति और गति", पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1977, पृ. 407

32. वही, पृ. 407

33. डॉ. रामविनोद सिंह - "आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास", अनुपम प्रकाशन, पटना, प्र.सं. 1980, पृ. 37

34. डॉ. अमरप्रसाद गणेशप्रसाद जायसवाल - "हिन्दी लघु उपन्यास", विद्याविहार प्रकाशन, कानपुर, प्र.सं. 1984, पृ. 292

35. डॉ. पाल्कान्त देसाई - "साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास", सूर्य प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1984, पृ. 163-164

36. वही, पृ. 167

37. डॉ. विद्याशंकर राय - "आधुनिक हिन्दी उपन्यास और अजनबीपन", सरस्वती प्रकाशन मंदिर, इलाहाबाद, प्र.सं. 1981, पृ. 178

38. वही, पृ. 179

39. वही, पृ. 183

40. सं. डॉ. वचनदेव कुमार - "अनुवाक" शोध-पत्रिका, हिन्दी विभाग, रांची विश्वविद्यालय, अंक - 3. वर्ष 1979, पृ. 36

41. डॉ. रामविनोद सिंह - "समकालीन हिन्दी उपन्यास", अनुपम प्रकाशन, पटना, प्र.सं. 1986, पृ. 42-43

42. डॉ. इंगल झाल्टे - "उपन्यास समीक्षा के नये प्रतिमान", वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1987. पृ. 135

43. भीष्म साहनी - "बसंती", राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वि.सं. 1982, पृ. 13

44. वही, पृ. 11-12

45. वही, पृ. 14

46. वही, पृ. 14

47. वही, पृ. 168

48. वही, पृ. 39

49. वही, पृ. 39

50. वही, पृ. 10

51. वही, पृ. 10

52. वही, पृ. 44

53. सं. नामवरसिंह - "आलोचना" त्रैमासिक पत्रिका, वर्ष 31-32, अंक 64-65, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1983. पृ. 60

54. वही, पृ. 60

55. भीष्म साहनी - "बसंती", राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वि.सं. 1982, पृ. 11

56. वही, पृ. 66

57. वही, पृ. 33

58. वही, पृ. 18

59. वही, पृ. 34

60. वही, पृ. 38

61. वही, पृ. 53

62. वही, पृ. 47

63. वही, पृ. 76

64. वही, पृ. 77

65. वही, पृ. 132

66. भीष्म साहनी - "बसंती", राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वि.सं. 1982, पृ. 142

67. वही, पृ. 143

68. वही, पृ. 150

69. वही, पृ. 168

70. वही, पृ. 117

71. वही, पृ. 117

72. वही, पृ. 39

73. वही, पृ. 60

74. वही, पृ. 137

75. वही, पृ. 82

76. वही, पृ. 83

77. डॉ. सुदेश बत्रा - "हिन्दी उपन्यास : बदलते परिप्रेक्ष्य", रचना प्रकाशन, जयपुर, प्र.सं. 1991, पृ. 121

78. सं. डॉ. रामदरश मिश्र - "हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष", गिरनार प्रकाशन, पिलानी कंज, महेसाना (गुजरात), प्र.सं. 1984, पृ. 385

000